शंख कर सोहे चक्र आदि मन मोहें, अहो ।
सिर पै किरीट, कान-कुण्डल ललाम हैं ।
पीत-पट धारे, कञ्ज-नेत्र रतनारे प्यारे —
हार मणि-कौस्तुभसे, हृदयाभिराम हैं ॥
ठाकुर त्रिलोककी तो शोभाश्री अनूठी सी,
जिसको विलोक, लोक बनते सकाम हैं ।
कहे 'कवि पुष्कर' नवाके शीश, भाव भरे,
चार भुजाधारी, विभु विष्णुको प्रणाम हैं ॥

संस्थापक : अनन्तश्रीविभूषित पू. पा. स्वामी श्री अखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज

सम्पादक :

ब्र. प्रेमानन्द 'दादा'
विश्वम्भर नाथ द्विवेदी
आनन्दकानन
सी. के. ३६/२०
वाराणसी - १
फोन : २६८३

व्यवस्थापक
सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, 'विपुल' २८/१६ रिजरोड, मलाबार हिल बम्बई - ६

★ विषयक्रम

ENGLISH

●

ज्योतिर्मय दीपावली

पूज्यपाद अनन्त श्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज का सन्देश

सहृदयं साम्मनस्यम-
विद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभिहर्यत
वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥

"आप सबका हृदय, आशय, अभिप्राय, लक्ष्य एक हो। सङ्कल्प एक हो। परस्पर कभी विद्वेष न हो। मैं आपमें इन गुणोंका आधान करता हूं। जैसे सर्वथा अवध्य गोमाता अपने सद्योजात बछड़ेसे प्रेम करती है, वैसे ही आप परस्पर प्रेम करें।"

— जनपद सूक्त, अथर्ववेद

सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट
'विपुल', २८।१६, रिजरोड, बंबई-६
की ओर से प्रसारित

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज:

नवम्बर, '७०
वर्ष : ७ अङ्क : १

चिन्तामणि

स्वस्त्ययन

(ऋग्वेद मण्डल ५, सूक्त ५१)

स्वस्ति मित्रावरुणा
स्वस्ति पथ्ये रेवति ।
स्वस्ति न इन्द्रश्चाग्निश्च
स्वस्ति नो अदिते कृधि ॥

दिन और रात्रिके अभिमानी देवता मित्र और वरुण हमारी रक्षा करें। पथमें हितकारिणी पथ्या देवी रेवती अर्थात् धनकी स्वामिनी मेरे लिए क्षेमकरी हो। इन्द्र देवता और अग्निदेवता भी हमारे लिए नित्य सुखके दाता बनें। हे अदिति देवी ! तुम हमारे लिए क्षेमका दान करो।

★
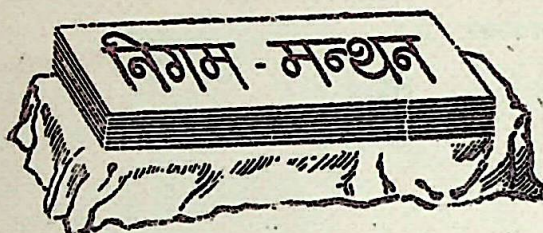
पुरुषसूक्त

(ऋग्वेद १०-९०, यजुर्वेद अध्याय ३१)

ॐ सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥

आदि पुरुष असंख्य सिर, असंख्य नेत्र और असंख्य पादसे युक्त था। वह पृथिवीको सब ओरसे घेरकर भी दस अंगुल अधिक ही था।

टिप्पणी : इस सूक्तके नारायण ऋषि हैं। शुक्ल यजुर्वेद संहितामें 'विश्वतो वृत्वा'के स्थानपर 'सर्वतः स्पृत्वा' पाठ है। उव्वटके अनुसार मोक्षमें इसका विनियोग है। 'पुरुष' देवता है। यह भी ध्यान रखने योग्य है कि भूतकालिक क्रियाका अर्थ केवल 'था' नहीं है, 'है' और 'होगा' भी है। काल विवक्षित नहीं है, सत्तामें तात्पर्य है। इसी आदि पुरुष अथवा पुरुषोत्तमसे विराट् अर्थात् माया प्रकट होती है और उससे ब्रह्माण्ड पुरुष। उनका वर्णन पाँचवी ऋचासे प्रारम्भ होता है। प्रथम पुरुष ब्रह्म है और विराट्से उत्पन्न द्वितीय पुरुष यज्ञकी सामग्री। पुरुषके द्वारा ही पुरुषकी आराधना होती है। ब्रह्माण्ड और जीव आदि पुरुषसे अभिन्न हैं और उसीकी पूजा, बलि, समर्पणके लिए हैं। अथवा उसीमें लीन या बाधित करनेके लिए हैं। आदि पुरुष परम सत्य है और विराट् तथा द्वितीय पुरुष अनिर्वचनीय = आपेक्षिक सत्य हैं।

पुरुष—'पूः' शब्दका अर्थ है—शरीर अथवा बुद्धि। 'ष'का अर्थ है—सीदन् = निवास। जो विषयोपलब्धिके लिए शरीर या बुद्धिमें निवास करता

है, उसे पुरुष कहते हैं। पुरमें शयन करनेके कारण भी उसकी 'पुरुष' संज्ञा है। पूरणार्थक 'पॄ' धातुसे 'पुरुष' शब्द बनता है। इसका अभिप्राय है जो बाहर-भीतर परिपूर्ण है, वह ब्रह्म ही पुरुष है (देखिये, निरुक्त)। वेद भी इसी अर्थमें 'पुरुष' शब्दका प्रयोग करता है—'तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्।'

सायणका अभिप्राय है कि यह सम्पूर्ण प्राणियोंके समष्टिरूप विराट् ब्रह्माण्ड देहका ही पुरुषपर आरोप करके वर्णन किया गया है। इसीसे सब प्राणियोंके सिर, नेत्र, चरणको उसीका कहा गया है। सहस्र संख्यामें तात्पर्य नहीं है। नहीं तो, सभी अंगोंको सहस्र ही क्यों कहा जाता ? दस अंगुलको उन्होंने उपलक्षण माना है, अर्थात् वह सबमें रहकर भी सबसे परे भी अखण्ड रूपसे परिपूर्ण है।

वेङ्कटनाथका व्याख्यान ऐसा है कि नारायणने यह संकल्प किया कि मैं सबसे परे और स्वयं सब हो जाऊँ। उन्होंने पुरुषमेध पञ्चरात्र यज्ञक्रतुका दर्शन किया। इसीसे वे सम्पूर्ण भूतोंसे श्रेष्ठ और सर्वरूप हो गये (वाजसनेय ब्राह्मण)।

जैसे प्रत्यक्ष अग्नियोंके द्वारा परोक्ष अग्निकी स्तुति की जाती है; उसीप्रकार लौकिक पुरुषोंके द्वारा परोक्ष पुरुषकी स्तुति की जाती है। यह सब उसीका शरीर है, जैसाकि गीतामें श्रीकृष्णने अर्जुनको दिखलाया है।

उवटने कहा है कि यह यज्ञ पुरुषोत्तमके प्रति पुरुष और उसके सर्वस्वका समर्पण है। अतः पुरुषमेध है। इसमें परमात्माका विज्ञान और आनन्दादि गुण परिपूर्णरूपसे विद्यमान हैं। यह स्वर्ग, अपवर्ग, ऐश्वर्य एवं मोक्षका दाता है। यह शरीर ही यज्ञ है और इससे ज्ञान-कर्मका समुच्चय होता है। इसमें पुरुष ही पुरुषका अन्न बताया गया है। महर्षि शौनकने राजा जनकको मोक्षके उद्देश्यसे इसका भाष्य करके उपदेश किया है।

इन्होंने 'दशांगुल' शब्दका अर्थ किया है—दस इन्द्रियाँ, दस अंगुलका हृदय, दशांगुल नासिकाग्र।

महीधरने यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि यहाँ 'पुरुष' शब्दका अर्थ है—प्रकृति-महत्तत्वादिसे विलक्षण चेतन पुरुष। उपनिषदोंमें उसे ही 'पुरुषान्न परं किञ्चित्' कहा गया है। उसीका शरीर है—सर्वप्राणियोंका समष्टिरूप ब्रह्माण्डदेह विराट्। 'सहस्र' शब्दका अर्थ संख्या नहीं, बहुत्व है। अक्षिसे सब ज्ञानेन्द्रिय और पादसे सब कर्मेन्द्रिय। 'स्पृत्वा'का अर्थ व्यापक है। 'भूमि' शब्दका पंचभूत। 'दशांगुल'का अर्थ है—ब्रह्माण्डके बाहर-भीतर, सब।

कोई-कोई ऐसा अर्थ करते हैं कि 'शीर्ष' शब्दसे चिति, ज्ञान, अनुभव समझना चाहिए, 'अक्षि' शब्दसे दर्शन, निरीक्षण और शासन। 'पाद' शब्दका अर्थ गति, धारण, रक्षण, प्रापण है।

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ २ ॥

यह जो वर्तमान जगत् है, वह सब पुरुष ही है। जो पहले था और आगे होगा, वह भी पुरुष ही है; क्योंकि वह अमृतत्वका, देवत्वका स्वामी है। वह प्राणियोंके कर्मानुसार भोग देनेके लिए अपनी कारणावस्थाका अतिक्रम करके दृश्यमान जगत्-अवस्थाको स्वीकार करता है, इसलिए यह जगत् उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है।

वेङ्कटनाथने 'इदं सर्वम्'का अर्थ किया है—स्थावर-जंगम। वह अमृतत्वका ईशान है—इसका अभिप्राय यह बतलाया गया है कि उसीसे सब जीवित है, उसके बिना सब मृत है।

शुक्ल यजुर्वेदमें 'भव्यम्'के स्थानपर 'भाव्यम्' पाठ है। वह कालत्रयका ईशान = स्वामी तो है ही, मोक्षका भी स्वामी है। वह अन्न अर्थात् अमृतके द्वारा सबका अतिरोध करता है। ऐसा उवट-भाष्यमें कहा गया है।

महीधरने कहा है कि जैसे इस कल्पमें सभी प्राणियोंके देह विराट् पुरुषके अवयव हैं, वैसे ही अतीत कल्प और भविष्य कल्पमें भी होते हैं। वह देवस्वामी है और जीवोंको भोग्यफल देनेके लिए ही जगत् बनता है। जगत् वास्तविक नहीं है।

इस मन्त्रके भाष्यमें महीधरने यह प्रश्न उठाया है कि सब कुछ पुरुष ही है तो वह परिणामी होगा। इसका समाधान करनेके लिए अमृतत्व अथवा मुक्तिका स्वामी है। जो मोक्षका ईश्वर होगा, वह भला, कैसे मरेगा? वह जन्म-नाशवाले जगत्का तो स्वामी है ही, कीट-पतंगसे लेकर ब्रह्मापर्यन्त जीवोंका भी स्वामी है। उसीसे सबको जीवन प्राप्त होता है।

श्रीमद्भागवतमें स्थान-स्थानपर पुरुषसूक्तकी विशद व्याख्या की गयी है। सब कुछ वही है और सबसे परे भी वही है! बाहर-भीतर वही है! अभय-अमृतका स्वामी वही है। पुरुषके अवयवोंसे ही सामग्रीका निर्माण करके पुरुषकी पूजा

को जाती है। पुरुषावयवके अतिरिक्त देश, काल, वस्तु, मन्त्र, देवता, संकल्प, गति, मति, श्रद्धा आदि कुछ नहीं हैं। यजमान, यज्ञ और पशु भी वही है। उसीसे उसकी आराधना होती है। (देखिए २-६)।

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥

अतीत, अनागत एवं वर्तमान रूप जितना जगत् है उतना सब इस पुरुषकी महिमा अर्थात् एक प्रकारका विशेष सामर्थ्य है=वैभव है, वास्तवस्वरूप नहीं। वास्तवपुरुष तो इस महिमासे भी बहुत बड़ा है। सम्पूर्ण त्रिकालवर्ती भूत इसके चतुर्थ पादमें हैं। इसके अवशिष्ट सच्चिदानन्दस्वरूप तीन पाद अमृतस्वरूप हैं और अपने स्वयंप्रकाश द्योतनात्मक-रूपमें निवास करते हैं।

टिप्पणी : सायणाचार्यका कहना है कि वेदोक्त 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' सब प्रकारके परिमाणसे रहित अनन्त है। अतः उसमें चार पादकी कल्पना करना अशक्य है, फिर भी परमार्थ सत् ब्रह्मकी अपेक्षा यह जगत् न्यूनसत्ताक है, अतएव अनिर्वचनीय है। साथ ही परब्रह्मका वास्तविक स्वरूप नहीं है, यह संकेत करनेके लिए ही पादका निरूपण है।

वेङ्कटनाथने भी सायणके समान ही मन्त्रार्थ किया है। वे इतना विशेष कहते हैं कि चतुर्थ पाद जन्म-मरणसे युक्त है। वे भी वेद वचन उद्धृत करते हैं कि परमात्मा अजन्मा रहकर ही अनेक प्रकारसे प्रकट होता है। धीर पुरुष उसके परमार्थ-स्वरूपको देखते हैं।

उवटाचार्यका कथन है कि चौदह भुवनमें जितने प्रकारके प्राणी हैं, सब इसके एक अंश हैं। तीन अंश अमृत हैं। वे हैं—ऋक्, यजुः, साम अथवा आदित्य। महीधर और सायणका भाष्य मिलता-जुलता है।

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः ।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥ ४ ॥

त्रिपाद् पुरुष संसार रहित ब्रह्मस्वरूप है। वह अज्ञानकार्य संसारसे विलक्षण और इसके गुण-दोषोंसे अस्पृष्ट है। इसका जो किञ्चित् मात्र अंश मायामें है वही पुनः-पुनः सृष्टि-संहारके रूपमें आता-जाता रहता

है। यह मायिक अंश ही देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि विविध रूपोंमें व्याप्त है। वही सभोजन प्राणी है और निर्भोजन जड़ है। सारी विविधता इस चतुर्थांशकी ही है।

सायणने इस मन्त्रके भाष्यमें गीताका 'एकांशेन स्थितो जगत्'० यह श्लोक उद्धृत किया है।

वेङ्कटनाथने साशन और निरशनके रूपमें देव, मनुष्य और वृक्षादिकी व्याख्या की है। इन प्राणियोंको भोग देनेके लिए ही ईश्वर अनेक रूप होता है।

उवटने साशन और अनशन शब्दोंका अर्थ स्वर्ग एवं मोक्ष किया है। जीवोंको इनकी प्राप्ति करानेके लिए ही ईश्वर जगत्के रूपमें प्रकट हुआ है। उनका यह भी कहना है कि एक पाद ही सबीज है, त्रिपाद निर्बीज है।

महीधरने 'त्रिपाद पुरुष'का अर्थ 'संसार-स्पर्शरहित ब्रह्म' किया है। वह इस अज्ञान-कार्य संसारसे विनिर्मुक्त है और इसके गुण-दोषोंसे असंस्पृष्ट है; यही उसकी ऊर्ध्वरूपता है। उसका चतुर्थ पाद अर्थात् लेशमात्र जगत् है जोकि मायामें गमनागमनको प्राप्त होता है। 'विष्वक्' शब्दका अर्थ है—'विषु' अर्थात् सर्वत्र 'अञ्चति' माने व्याप्त। जो मायामें आकर देव, पशु, पक्षी आदिके रूपमें होता है। 'साशन'का अर्थ है—भोक्ता प्राणी। 'अनशन'का अर्थ है—अभोक्ता, अचेतन, जड़। 'अभि'का अर्थ है—उनकी ओर दृष्टि करके। वह स्वयं विविध रूप हो जाता है।

तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥ ५ ॥

उस आदि पुरुषसे विराट् ब्रह्माण्ड देहकी उत्पत्ति हुई। विराट् देहको ही अधिकरण बनाकर उसका अभिमानी एक और पुरुष प्रकट हुआ। वह पुरुष प्रकट होकर विराट्से पृथक् देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदिके रूपमें हो गया। उसके बाद पृथिवीकी सृष्टि हुई और जीवोंके निवास योग्य सप्त धातुओंके शरीर बने।

सायणने 'विराट्' शब्दका अर्थ किया है—जो विविध वस्तुओंसे विराजित हो। ब्रह्माण्ड देहमें प्रकट अभिमानी पुरुषको वे जीव कहते हैं। वेदान्तवेद्य परमात्मा स्वयं ही अपनी मायासे ब्रह्माण्डरूप विराट् देहका निर्माण करके उसमें जीव रूपसे प्रविष्ट हुआ है। वह देवतात्मा है। नृसिंहतापनी (२-१-९) में कहा गया है कि, "परमात्मा अपनी मायासे भूत, इन्द्रिय, विराट्, देवता

और कोशोंकी सृष्टि करके तथा उनमें प्रवेश करके अमूढ़ होनेपर भी मूढ़के समान व्यवहार कर रहा है। यह सब उसकी माया है।"

वेङ्कटनाथका अभिप्राय है कि आदि पुरुषसे विराट् पुरुषकी उत्पत्ति हुई—इसका अर्थ है, ब्रह्माका जन्म। मनुस्मृति (१।३२) के अनुसार वह स्त्री-पुरुषात्मक है और उसीसे यज्ञपुरुषकी उत्पत्ति होती है। पुरुषमेधका अर्थ है—अहं और इदं—सब कुछ आदि पुरुषसे पृथक् नहीं हैं, ऐसा भाव।

उवट भाष्यमें कहा गया है कि आदि पुरुषसे विराट्, विराट्से अधिपुरुष अर्थात् प्रधान तेज। वही क्षेत्रज्ञ सृष्टिकर्ता ब्रह्मा है। इसके पश्चात् दूसरी सृष्टि हुई।

सायण और महीधरका भाष्य एक-सा है।

किसी-किसीका कथन है कि 'विराट्' शब्दका अर्थ माया है। विविधं विपरीतं वा राजते इति विराट्। यह स्त्रीलिंग और पुंल्लिग दोनोंमें बनेगा। अर्थात् एक ही परमात्मा इस मायाके कारण विविध अथवा विपरीत रूपमें भास रहा है। विपरीत-रूपता ही विवर्त है। ब्रह्मा, विविधता, भूमि, शरीर-भेद—यह सब आदि पुरुषमें मायिक हैं और उसीसे उसकी आराधना करनेके लिए उपयोगी हैं। इनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। ●

आप किससे प्रेम करते हैं ?

भक्तने भगवान्से प्रश्न किया—'स्वामी ! आप किससे प्रेम करते हैं ?

भगवान्—प्रेम तो मैं अपने आपसे ही करता हूँ। यदि मुझमें किसी प्रकारकी कमी होती तो मैं उसे पूरी करनेके लिए किसी दूसरेसे प्रेम करता।

भक्त—तब क्या आप भक्तोंसे भी प्रेम नहीं करते ?

भगवान्—जैसे मनुष्यको अपने विविध प्रकारके फोटो देखनेका शौक होता है, वैसे ही मुझे भी अपने भिन्न-भिन्न प्रकारके फोटो देखनेका शौक है; क्योंकि मुझमें भिन्नता नहीं है। जब लक्ष-लक्ष भक्त अपने-अपने मनमें अपनी-अपनी रुचिके अनुसार मेरे फोटो खींचते हैं अथवा अपने पसन्दकी तस्वीर बनाते हैं तब मैं उसको देखने लगता हूँ और ठीक उसी छाया-चित्र अथवा आकारा-भासके मूलपट, उपादान अथवा आधार रूपमें होनेके कारण मैं उस चित्रमें आरूढ़ हो जाता हूँ और वही हो जाता हूँ। वह नया चित्र चाहे कैसा भी हो, भले ही उसे अपने हृदयमें मित्र बनावे या शत्रु, वह मुझे प्यारा लगता है, उससे मैं प्रेम करने लगता हूँ। वस्तुतः मैं भक्तके हृदयमें विद्यमान एवं वर्तमान अपने ही आकारसे अथवा भगवदाकारतासे ही प्रेम करता हूँ। ●●●

भक्तिरसकी माधुरी

● अनन्त श्रीकरपात्रीजी महाराज

'त्वम्' पदका लक्ष्यार्थ प्रत्यगात्मा परमानन्द - स्वरूप है; क्योंकि वही निकट-से-निकटतम है और अवेद्य होनेके साथ-ही-साथ अपरोक्ष भी है। अभिप्राय यह है कि न तो वह घटपटादि विषयोंके समान प्रत्यक्ष है और न स्वर्गादिके समान परोक्ष; क्योंकि वह स्वयं अपना आत्मा ही है। परमात्मा भी इससे अभिन्न होकर ही अपरोक्ष और परमानन्द - स्वरूप ही है। प्रत्यगात्मा ही स्थूल, सूक्ष्म, कारणरूप तीन शरीरका साक्षी होनेके कारण त्रिपुरा है, सौन्दर्यसार-सर्वस्व है और शिव-भोग्य है। इस प्रतिपादनसे जीवात्मा भी भगवद्भोग्य है—यह युक्तिसिद्ध हो जाता है। साथ ही श्रीकृष्ण परमानन्द-रसामृत-सिन्धु है और श्रीराधारानी उनके माधुर्यसार - सर्वस्वकी स्वामिनी, यह भी। एक पूर्णानुराग रूप-रस-सरोवर है। उसमें वृन्दावनरूप-सरोज विकसित हुआ है। उस सरोज-पर व्रजांगनाएँ किञ्जल्क हैं। श्रीकृष्ण पराग हैं। मकरन्द हैं—वृषभानुनन्दिनी। परम अन्तरंग श्रीराधारानीका श्रीकृष्ण-भोग्य होना उचित ही है। श्रीकृष्ण आत्माराम हैं, राधिका उनकी आत्मा। अतः रति उपपन्न है। राधाकी रश्मियाँ हैं—सखियाँ। अतः वे भी तद्रूप ही हैं। भगवान् श्रीकृष्ण नित्य-निरतिशय-निरवद्य-दिव्य-कल्याणगुणगणके एकमात्र निलय हैं। अतः उनमें प्रेमका अल्पत्व, राहित्य अथवा अनन्यताका अभाव कल्पित करना दुःसाहस मात्र है। जीवोंकी असाधारण विशेषता है—भगवान्के अधीन स्थिति-गति-प्रवृत्तिवाला होना। भगवान्की असाधारण विशेषता है—सर्वव्यापक, सर्वाश्रय, सर्व-सत्ता-स्फूर्तिप्रद होना। यह बात आपको ज्ञात ही है कि रूप और नेत्र—दोनोंकी प्रकृति है—तेज। व्यवहार-दशामें विषय है रूप; विषयी है नेत्र। फिर भी कारण दशामें दोनोंका अभेद ही है। कारणदशामें स्वप्रकाश होनेके

कारण विषय-विषयी - भावकी अपेक्षा न होनेके कारण स्वरूपमात्र ही है। इसीप्रकार व्यवहारदशामें विषय-सौन्दर्य और ज्ञान जनित वृत्ति—इन दोनोंमें भेद होनेपर भी मूलदशामें प्रेम और सौन्दर्य अभिन्न हैं। आत्मा ही निरतिशय परमानन्दरूप होनेके कारण परम सौन्दर्यरूप है और प्रेमरूप भी है। परमानन्द ही परम सौन्दर्य है। परम प्रकाशरूप होनेसे सौन्दर्यज्ञान-रूप भी है। अतएव वही परम प्रेमास्पद और परम प्रेमरूप है। जड़ताके अत्यन्ताभावका अधिकरण होनेके कारण वही परमानन्द-स्वरूप आत्मा है।

सौन्दर्यसार-सर्वस्व वृषभानु-नन्दिनीके रूपमें प्रकट है। सौन्दर्य-ज्ञानके रूपमें श्रीकृष्ण प्रकट हैं। मूलतः दोनों एक हैं। यदि जीवा-त्माओंको अनात्मा माना जाय तो भगवान्‌का उनके साथ वैसा प्रेम नहीं हो सकता; परन्तु जब वे भगवान्‌के आत्मा ही हैं—यह सिद्ध हो जाता है तो जीवोंका भगवान्‌-का प्रेमास्पद होना भी सिद्ध हो जाता है। इसीसे श्रुतियोंमें दोनों-को दोनोंसे अभिन्न कहकर वर्णन किया गया है—**'त्वं वै भगवो देवते अहमस्मि, अहं वै भगवो देवते त्वमसि।'** मैं तुम हूँ, तुम मैं हो।

जैसे रसिकजन द्वारकानाथ, मथुरानाथ, व्रजेन्द्रनन्दन, वृन्दा-वनचन्द्र आदि रूपसे भगवान्‌को सर्वेश्वर, सर्वपालक, भक्तेच्छापूरक आदि मानते हैं, वैसे ही निकुञ्जा-धीश्वर श्रीकृष्णके रूपमें उन्हें एकमात्र राधानिष्ठ भी स्वीकार करते हैं। ठीक ऐसे ही वे सर्वज्ञ, सर्वपालक, सर्वेश्वर आदिरूपसे अन्य-निष्ठ होनेपर भी स्वेष्टत्व, परमप्रेमास्पदत्व आदि रूपसे एक-मात्र राधानिष्ठ हैं—यह भी संगत होता है। भगवान्‌का रूप भक्तेच्छा-नुविधायी है अर्थात् भक्त लोग जैसा चाहते हैं, वैसा रूप भगवान् धारण करते हैं। भागवतमें **'तत्तद्वपुः प्रणयसे'** कहा गया है। जैसे राधा-निकुञ्ज मन्दिरमें श्रीकृष्ण राधानिष्ठ हैं, वैसे भक्त-हृदय-निकुञ्जमें श्रीकृष्ण भक्त-निष्ठ हैं। भक्तोंके हृदयमें स्थित भगवान्‌के स्वरूप अपने-अपने भक्तके प्रति अनन्य और रसिक होते हैं। इसीसे दुर्वासाके प्रति भगवान्‌का यह वचन संगत होता है कि साधु मेरे हृदय हैं और मैं साधुओंका हृदय हूँ। वे मेरे अतिरिक्त और किसीको नहीं जानते और मैं उनके अतिरिक्त और किसीको नहीं जानता। **'नाहं तेभ्यो मनागपि'**—यह कह-कर स्पष्ट कर दिया गया कि भक्तों-

के हृदयमें बैठकर भगवान् अपनी सर्वज्ञताको भी संकुचित कर लेते हैं। प्रेमके सम्मुख सर्वज्ञता हार मान बैठती है। जीवमें ज्ञान, ऐश्वर्य आदि सीमित होते हैं, भगवान्‌में असीम। उनसे बढ़कर ज्ञान-ऐश्वर्यादि और किसीमें नहीं होते। ठीक वैसे ही प्रेम भी भगवान्‌में असीम होता है, जीवमें नहीं।

व्रजकी सभी गोपियाँ श्रीकृष्ण-के प्रति अनन्य प्रेम-निष्ठ हैं। कृष्ण ईश्वर होनेके कारण सबसे प्रेम करते हैं। जीव अनेक हैं, ईश्वर एक है। तथापि अपनी यह न्यूनता दूर करनेके लिए कृष्ण भी रास-लीलामें अनेक हो जाते हैं। भक्तों-के हृदयमें विद्यमान स्थायीभाव-रूप और रसरूप होनेके कारण ऐसा होना युक्ति-युक्त है। एक-एक गोपी-के प्रति एक-एक श्रीकृष्णकी अभि-व्यक्ति **'अंगनामङ्गनामन्तरं माधवो माधवं माधवश्चान्तरे-णाङ्गनाः'** के अनुसार सर्वथा सिद्ध है। जितने भक्त, जितनी भक्ति, उतने भगवान्—यह भेद हम स्वी-कार करते हैं।

बहुत-से लोग भगवान्‌की पूजा करते हैं परन्तु प्रत्येक भक्त यह सोचता है कि अब हमारे भगवान्-को भूख-प्यास लगी होगी, इसके लिए त्वरा करनी चाहिए। भग-वान् भी तो अपनेको भूखा-प्यासा प्रकट करते हैं। यह प्रसिद्ध है कि किसीने करमैवती बाईको स्नान करनेका उपदेश कर दिया। खिचड़ी बनानेमें देर हो गयी तब भगवान्‌ने अपनेको भूखेके रूपमें प्रकट किया। भक्तोंके वात्सल्यभाव-की रक्षा करनेके लिए सर्वशक्तिमान् होनेपर भी भगवान् वानर देखकर डर जाते हैं। यही बात कही गयी कि मैं अपने भक्तोंके अतिरिक्त दूसरोंको सर्वथा नहीं जानता। परमानन्द-सिन्धु भगवान् अपनी माधुर्य-सार-सर्वस्व राधाके प्रति सर्वथा अनन्य हो जाते हैं।

दूरे सृष्ट्यादिवार्ता न कलयति
मनाङ् नारदादीन् स्वभक्तान्।
श्रीदामाद्यैः सुहृद्भिर्न मिलति
हरति स्नेहवृद्धिं स्वपित्रोः॥
किन्तु प्रेमैकसीमां परमरस-
सुधासिन्धुसारैरगाधां ।
श्रीराधामेव जानन् मधुपति-
रनिशं कुञ्जवीथीमुपास्ते॥

(श्रीराधासुधानिधि, २३५)

सृष्टि-स्थितिका व्यापार कहीं छूट गया। नारदादि भक्तोंका किंचित् स्मरण भी नहीं होता। श्रीदामा आदि सुहृदोंसे नहीं मिलते। माता-पिताका स्नेह-वर्धन नहीं करते। बस, वे तो श्रीराधाको ही जानते हैं। क्यों न हो, वे प्रेमकी परा सीमा हैं। उनका परम रस सुधा-सिन्धु अगाध है। जब

देखो तब, न दिन देखें, न रात, मधुपति कृष्ण कुंजगलीकी उपासना कर रहे हैं।

स्पष्ट है कि साक्षात् मन्मथ-मन्मथ भगवान् हैं श्रीकृष्ण, और श्रीराधारानी उनकी भी मोहनी हैं।

किसी-किसीका मत है कि गोपियाँ परम स्वकीया हैं तथापि प्रकट लीलामें रस-विशेषका अनुभव करनेके लिए परकीया-सी हो रही हैं। निषेध-विशेष और परस्पर दुर्लभता अतिशय आसक्तिका कारण है। प्राकृत नायकके साथ परकीया सम्बन्ध लोकनिन्दित एवं धर्म-विरुद्ध है। भगवान्के साथ वह रसका हेतु है। भरतने निषेध गुप्त अभिलाष और दुर्लभताको मन्मथका परम निवास स्थान माना है। रुद्रने इसे पंचवाणका परमायुध कहा है। विष्णुगुप्तने इन्हींको नागर-हृदयका आकर्षण-केन्द्र माना है।

ऐसे प्रसंगमें क्षण-क्षण नूतनताका अनुभव होता है, उदाहरणार्थ—

कोऽयं कृष्ण इति व्युदस्यति धृतिं यस्तन्वि कर्णं विशन्, रागान्धे किमिदं सदैव भवती तस्योरसि क्रीडति। हास्यं मा कुरु मोहिते त्वमधुना न्यस्तास्य हस्ते मया सत्यं सत्यमसौ दृगङ्गन-मगादद्यैव विद्युन्निभः ॥

> **पेटके बल सोनेसे गहरी नींद, अच्छा स्वास्थ्य**
>
> **नई दिल्ली, २८ अप्रैल (यु० न्यू०)। गहरी नींद और अच्छे स्वास्थ्यके लिए पेटके बल सोना चाहिए। शारीरिक गठनकी दृष्टिसे कोई भी दूसरी स्थिति इतनी उपयोगी नहीं है।**
>
> **स्टारवर्ग अस्पतालके प्रो० कार्ल स्टूलफाथ और म्यूनिख विश्वविद्यालय अस्पतालके प्रो० अडोल्फ हर मानका यहाँ मत है। इन डाक्टरोंके अनुसार पेटके बल सोनेसे फेफड़ेकी सूजन और श्वास सम्बन्धी कई शिकायतें भी नहीं होगी। (न० भा० टा०)**

श्रीराधा—सखि! यह कृष्ण कौन है? जिसका नाम कानमें पड़ते ही धृतिका लोप हो जाता है।

सखी—अरी रागान्धे! यह क्या कह रही है। आप तो सर्वथा उसीके वक्षःस्थलपर क्रीड़ा करती रहती हैं।

श्रीराधा—अरी मुग्धे! मुझसे हास्य-विनोद क्यों कर रही है?

सखी—अभी-अभी तो मैंने तुमको उसके हाथोंमें समर्पित किया था।

श्रीराधा—सच है, सच है, सखि! आज ही पहले-पहल विद्युत्-रेखाके समान चमककर

मेरी आँखोंके आँगनमें एक बार झलक गया था।

जैसे कच्चे आमका फल पके आमके फलका कारण है, वैसे ही अपक्व भक्ति ही पक्व भक्तिका कारण है। रसात्मक भगवान् ही विश्वके मूल हैं। वे ही सबमें अनुस्यूत हैं ठीक वैसे ही जैसे, कटक, कुण्डल आदिमें स्वर्ण। वही रस, अवस्था-भेदसे कार्य-कारण परम्परा-रूप होकर महाभावादिके रूपमें अभिव्यक्त होता है। प्रेम-स्नेह आदिके नामसे भी उसीका व्यवहार होता है। अतिशय चित्त-द्रवकी उपाधिसे प्रेम-रस ही स्नेह हो जाता है। स्नेह ही अतिशय प्रियत्वके अभिमानसे कुछ कुटिल-सी भाव-वैचित्री धारण करके प्रणय होता है। उसीमें जब वामता-विशेषका उदय होता है तब मान कहलाता है। पहले मान होता है कि प्रणय—इसमें मतभेद है। कोई-कोई कहते हैं कि मान ही विचित्र भावापन्न होकर प्रणय होता है। प्रणय अर्थात् जो आदरके साथ प्रियके पास पहुँचाये—प्रकर्षेण नयति। इससे प्रेमी-प्रिय-तमका अतिशय सामीप्य होता है। अतिशय विश्रम्भात्मक प्रेम ही प्रणय है—ऐसा शिष्टोंका कथन है। जितनी-जितनी आन्तर समीपता प्रकट होती है उतना ही उतना विश्रम्भ अथवा विश्वास बढ़ता जाता है। लाख-लाख विघ्न भी इस अभि-लाषको चोट नहीं पहुँचा सकते। यही स्नेह राग हो जाता है। इसीसे रागास्पद प्रियतममें क्षण-क्षण अभिनव माधुर्यातिशयका अनुभव होता है और यही नव-नवोन्मेषशाली होकर रागसे अनु-राग बनता है। रसिकोंने कहा है—इसका स्वरूप है—शुद्ध सत्त्व-का विशेष। सूर्यकी किरणोंसे तुलनीय है; क्योंकि यह प्रेम अपनी रुचि-रश्मियोंसे चित्तको कोमल बनाता है। रसशास्त्रमें इसकी 'भाव' संज्ञा है। प्रणयके उत्कर्षसे जब दुःख भी सुखरूपमें व्यक्त होने लगता है तब उसीका नाम राग हो जाता है। सूर्यकान्त पर्वत मध्याह्न सूर्यसे अतिशय उष्ण होकर भीषण ज्वाला-मालाकुलित अग्निका उद्वमन कर रहा हो और श्री राधिकारानी उसके शिखरपर चढ़कर श्रीकृष्णका दर्शन कर लें तो परमानन्दका अनुभव करती हैं।

इस प्रेमके अनेक भेदोंका वर्णन 'भक्तिरसामृतसिन्धु', 'उज्ज्वल नीलमणि', 'प्रीतिसन्दर्भ' आदि मूल ग्रन्थोंमें दर्शनीय है। उदाहरणार्थ—

घृत-स्नेह वह है जो आदरकी प्रधानतासे गाढ़ है। स्वयंमें उतना स्वादु नहीं है परन्तु दूसरे भावसे

मिश्रित होकर स्वादोद्रिक्त हो जाता है।

मधु-स्नेह वह है जब प्रियतमके प्रति अतिशय मदीयताका भाव होता है। उसका माधुर्य स्वयं प्रकट होता है और वह नाना रसोंका समाहार-रूप है। उसमें मत्तताकी ऊष्मा है। मधुके समान होनेसे 'मधु-स्नेह' नाम है।

अपनी पराकाष्ठापर पहुँच कर हृदय-को द्रवित कर देता है। इस द्रवको ही 'स्नेह' कहते हैं।

मनुष्यके हृदयमें जब भावां-कुरका उदय होता है तब ये सब लक्षण प्रकट होते हैं। अपराधीको क्षमा कर देना। समय व्यर्थ न खोना। प्रियतमके अतिरिक्तसे वैराग्य होना। मान न होना।

ईश्वरका नमूना

प्रश्न—ईश्वर क्या है ? महाराज !

उत्तर—तुम्हीं हो।

प्रश्न—ऐसा कैसे ? जिसमें सारी सृष्टिको बनाने-बिगाड़ने, पालने, जानने का सामर्थ्य होता है, वह ईश्वर है, मुझमें तो यह सब नहीं है।

उत्तर—तब तो तुम ईश्वरके बारेमें बहुत-कुछ जानते हो। यह सब लक्षण ईश्वरको समझानेके लिए हैं। यदि तुम साढ़े-तीन हाथके शरीरमें बैठे हुए ईश्वरको नहीं पहचान सकते तो तुम सम्पूर्ण प्रपंचके स्वयंप्रकाश अधिष्ठानको कैसे समझ सकते हो ? जब 'तुम क्या हो ?' यह समझ लोगे तब 'ईश्वर क्या है ? यह भी समझ जाओगे।

जिस भावसे अन्तःकरण अत्यन्त स्निग्ध और कोमल हो जाता है। अतिशय ममताकी छाप लग जाती है। वही गाढ़ होकर 'प्रेम' संज्ञक हो जाता है।

प्रेयसी-प्रियतमका जो भाव-बन्धन टूटनेका कारण उपस्थित होने पर भी किञ्चित् नहीं टूटता, उसे प्रेम कहते हैं।

चिद्दीपके समान प्रदीप्त प्रेम भगवान् मिलेंगे—इस आशाका दृढ़ होना। मिलनेके लिए उत्कण्ठा होना। नाम-गानमें सदा रुचि। प्रियतमके गुण-वर्णनमें आसक्ति। उनके धाममें प्रीति इत्यादि। इन्हें अनुभाव कहते हैं।

ह्लादिनी, संधिनी और संविद्—ये सब परमात्मामें ही निवास करती हैं। गुणातीत प्रभुमें गुणमयी मिश्र शक्तियोंका स्पर्श कहाँ—

प्रेम उदय होनेका यह क्रम है—श्रद्धा, साधुसंग, भजन-क्रिया, अनर्थ-निवृत्ति, निष्ठा, रुचि, आसक्ति, भाव, महाभाव अथवा प्रेम।

जैसे गन्नेके पाक-भेदसे ही गुडादि होते हैं वैसे ही प्रेमके अवस्था-भेदसे ही स्नेह, राग आदि होते हैं।

बीज, इक्षु, रस, गुड, खण्ड, शर्करा, मिश्री, ओला यह सब गन्ने-के ही परिणाम और परिपाक हैं। ऐसी ही होती हैं—प्रेमकी अवस्थाएँ।

रति तीन प्रकारकी होती है—साधारणी, समंजसा और समर्था। मणिके समान सुलभ, चिन्तामणिके समान दुर्लभ और कौस्तुभ मणिके समान अनन्य लभ्य।

प्रीति अर्थात् प्रियतमकी अनुकूलताके अभिप्रायसे चेष्टा। प्रियतमके सुखमें ही अपना सुख। इसीसे निष्कपट प्रेमकी महिमा है। इसकी न्यूनतासे ही कुब्जाकी रति निकृष्ट है, क्योंकि वह अपने सुखभोगके लिए है। द्वारकाकी पटरानियों-की रतिमें भी 'तत्सुखसुखी' भावकी जितनी न्यूनता है उतनी ही रतिकी भी न्यूनता है।

श्रीमद्भागवतमें यह स्पष्ट आता है कि द्वारकाकी पटरानियाँ श्रीकृष्णको नहीं मोह पातीं; परन्तु गोपांगनाएँ तत्सुखसुखीभाव-रूप अतिशय प्रेमसे श्रीकृष्णको मोह लेती हैं। श्रीकृष्णने उद्धवसे गोपियों-का वर्णन (एकादशस्कन्ध) करते हुए कहा है कि वे प्रीतिकी अधिकतासे सब कुछ भूल जाती थीं और अपना नाम-रूप तक खो बैठती थीं, जैसे समाधिस्थ मुनि अथवा समुद्र-प्रविष्ट नदी।

प्रियतमकी सन्निधिमें रहते समय भी प्रेमके स्वाभाविक उत्कर्षसे वियोग-स्फूर्ति होकर जो व्यथा होती है उसे 'प्रेम-वैचित्य' कहते हैं। यद्यपि तेज नेत्रका सहकारी है परन्तु वह अत्यन्त तीव्र होता है तब दर्शन-शक्ति मूर्च्छित हो जाती है। जब बुद्धि पूर्णानुराग-रसास्वादन-में निमग्न हो जाती है तब अंकालिंगनशाली प्रियतम भगवान्-की भी स्फूर्ति नहीं होती और आर्तिजन्य विवशता प्रकट हो जाती है। श्रीराधासुधानिधिमें कहा गया है कि एक बार ऐसी ही दशामें अकस्मात् श्रीराधारानी ऊँचे स्वरसे बोल उठीं—'हा प्रेष्ठ ! हा प्रियतम !' निकुञ्जके बाहर स्थित सखियाँ विह्वल हो गयीं। धन्य है यह प्रेम और धन्य हैं ऐसी प्रेमिका, नित्य निकुञ्जविहारिणी श्यामा।

'अंकालिंगनशालिनी प्रियतमे' यह श्लोक पहले आ चुका है। विरहमें प्रियतमकी स्फूर्ति होने

पर आलिंगनके लिए प्रवृत्ति हो और वह न मिले तो विरह-व्यथाका समुद्र प्रेमीको और भी अधिक अपने अन्दर निमग्न कर लेता है। परमप्रेष्ठ श्रीकृष्णको सुख पहुँचाते समय भी उनको कहीं पीड़ा न पहुँच जाय—इस आशंकासे पलकोंका गिरना भी सहन न हो तो महाभाव रूढ़दशाको प्राप्त हो जाता है। यह रूढ़ महाभाव दिव्य प्रकाश रूप अनुरागकी ही परिपक्व दशा है। प्रियतमको लेशमात्र सुख पहुँचानेसे भी ऐसा अनन्त सुख होता है कि उसके बिन्दुमात्र सुखकी बराबरी कोटि-कोटि ब्रह्माण्डके सुख नहीं कर सकते। ठीक इसी प्रकार अपने प्रियतमको पीड़ा पहुँचनेकी आशंकासे ऐसा अनन्त दुःख होता है कि त्रिलोकीका त्रैकालिक दुःख भी उसकी तुलनामें कुछ नहीं रहता है। संयोग और वियोगके भेदसे रूढ़ महाभावके भी दो प्रकार होते हैं—मोदन और मादन। मोदन ही मोहन है। मादन विशेष प्रकारके दिव्य मधुके समान मत्तताकारक है। देखिये, एक गोपीका वचन—

स्यान्नः सौख्यं यदपि
बलवद्गोष्ठमाप्ते मुकुन्दे
यद्यल्पापि क्षतिरुदयते
तस्य मागात्कदापि।
अप्राप्तेऽस्मिन् यदपि
नगरादार्तिरुग्रा भवेन्नः।
सौख्यं तस्य स्फुरति हृदि
चेत्तत्र वासं करोतु॥

यदि प्यारे मुकुन्द व्रज-वनमें आ जायँ तो हमें महान् आनन्द मिलेगा। परन्तु उनके यहाँ पधारनेसे यदि उनकी किञ्चित् भी क्षति होती हो तो वे यहाँ कभी न आयें। यद्यपि नगरसे उनके यहाँ न आनेपर हमें बड़ी वेदना होगी तथापि वहाँ रहनेसे यदि प्यारेके हृदयमें सुख होता है तो वे वहीं निवास करें।

यदि यह शरीर मर जाय तो इसमें स्थित पंचभूतोंके द्वारा भी अपने प्रियतमकी ही सेवा हो। देखिये,

पंचत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः
स्वांशे विशन्तु स्फुटम्,
धातारं प्रणिपत्य हन्त
शिरसा तत्रापि याचे वरम्।
तद्वापीषु पयस्तदीय-
मुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गन-
व्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि
धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः॥

यह शरीर मर जाय, पञ्चभूत अपने-अपने कारणमें मिल जायें फिर भी मैं विधाताको सिरसे प्रणाम करके यही वर माँगती हूँ कि इस शरीरका जल उसकी बावलीमें, ज्योति दर्पणमें, आकाश

उसके आँगनके आकाशमें, पृथिवी उसके मार्गकी पृथिवीमें और वायु उसके पंखेमें जा मिलें।

स्मरण दशामें श्याम-प्रीति विषम वेदनामयी है। विस्मरण होनेपर प्राण फटने लगते हैं। ऐसी स्थितिमें, सखियों! प्रीति कोई भली वस्तु है, ऐसा कौन कहता है? मनुष्य हँसते-हँसते हृष्ट हो-होकर प्रीति करता है और रो-रोकर जीवन ढोता है। जो अपने कुल-मर्यादाको बचाये रखकर प्रीति करती है, वह तो रो-बिलख-कर भूसीकी आगमें जलती-मरती रहती है। राधाकी भावना ऐसी है—'प्यारे! जीवनमें, मरणमें, जन्म-जन्मान्तरमें तुम्हीं मेरे प्राण-नाथ होना। मेरे प्राण तुम्हारे चरणोंमें प्रेमकी रज्जुसे बँधे हुए हैं। मेरा सर्वस्व तुम्हारे प्रति अर्पित है। त्रिभुवनमें तुम्हारे सिवाय मेरा और कोई नहीं है। तुम्हारे शीतल चरणारविन्द ही मेरे सर्वस्व हैं। मेरे कुल-शील मर्यादाके तुम्हीं स्वामी हो। तुम्हारे सम्बन्धसे प्राप्त कलंक भी मेरा अलंकार है। मैं सती हूँ या असती—इसको तुम्हीं जानते हो। मेरा पुण्य-अपुण्य सब तुम्हें ही अर्पित है।' राधा पल-पल अकस्मात् मिले हुए मणि-माणिक्यके समान मोहनको ही निहारती है। छायाकी भाँति अनु-गमन करती है। प्रियतम भी प्रेमवश होकर प्रेयसीका ही अनु-सरण करते हैं।

कभी-कभी राधाका मन संतप्त हो उठता है। 'हाय! हाय! मैं यमुना तटपर क्यों गयी? कृष्णने छलसे मेरा मन छीन लिया। मेरे नेत्र उनके सौन्दर्य-समुद्रमें डूब गये। उनके यौवन-वनमें मेरा मन खो गया। घरका मार्ग लम्बा हो गया। हृदय फट रहा है। ललाट-पटलपर संलग्न चंदन-चर्चित मृग-मदने मेरे नेत्रकी पुतलियोंको कैद कर लिया। पीता-म्बरधारीने मेरी जाति, कुल, शील-सब लूट लिया।'

श्रीराधाकी मान-मुद्रा देखकर उसके माधुर्यपर कोई भाग्य-शालिनी सखी मुग्ध हो जाती है और कहती है—'सखि! सचमुच तुममें ही मान सोहता है। तुम ऐसे ही मानवती होकर रहो, मैं माधवको लाती हूँ। दूसरोंकी मुस्कान और हँसी भी उतनी सुहावनी नहीं होती, जितनी तुम्हारी मान-मुद्रासे अंकित रोष-पूर्ण, वक्र भृकुटि। पूर्ण चन्द्रमाको निछावर करके फेंक दूँ। स्वयं सखी ही मानिनीकी मुख-मुद्रा-माधुरीका रसास्वादन करने लगती है। न जा पाती है, न रह पाती है। मन जैसे हिंडोला झूल रहा हो। मन

ही मन सोचती है कि फिर ऐसी मानमयी सुन्दर झाँकी कभी मिलेगी अथवा नहीं, मैं तो स्वाद ले लूँ अथवा नन्दनन्दनको लाकर दिखाऊँ? क्या करूँ? जाऊँ या यहीं रहूँ?'

देखिए, प्रेमके कुछ उद्‌गार—

सखि हे चरतु यथेष्ट
वामो वा दक्षिणो वास्तु।
श्वास इव प्रेयान् मे
गतागतैर्जीवयत्येव ॥

'हे सखि! मेरा प्रियतम मेरे श्वासके समान है। चाहे जैसे चले, बायें (प्रतिकूल) रहे या दायें (अनुकूल), वह बाहर जाय या भीतर आये। प्रत्येक दशामें जीवनदान ही करता है।'

'नेत्रोंमें आँसू हैं। प्यारेका पत्र सुकुमार है। विरहकी आग जल रही है। अंगुलियां गरम हैं। देखूँ, तो गल जाय। छूऊँ तो जल जाय। आखिर क्या करूँ, कहाँ जाऊँ? दोनों ओर दुःख-ही-दुःख है।'

'क्या आश्चर्य है प्रेमका विलास कि बेचारी विरहिणी अपने प्राणप्यारेके द्वारा प्रेषित पत्र भी नहीं पढ़ सकती। उत्सुकता हृदयको मथ रही है।'

प्रेमोन्मादमें छकी, भिन्न-भिन्न उद्दीपनोंसे उदीप्त-रस गोपांगनाएँ इस ढंगसे वितर्क करती हैं—

'क्यों री सखि! जिस देशमें प्यारे श्यामसुन्दर बसते हैं, वहाँ क्या मेघ गर्जना नहीं करते? क्या इन्द्रने उनपर रोक लगा दी है? क्या वहाँ साँपोंने मण्डूकोंको खा लिया है? क्या पानीकी फुहारें

क्या कुछ पल्ले पड़ा ?

अमृतसरमें महाराजश्री 'वेणुगीत' पर मधुर प्रवचन कर रहे थे। पण्डित श्रीचिम्मनलालजी प्रवचनसे उठकर किसी बड़े सेठके घर गये। सेठने प्रवचनकी चर्चा चलनेपर उन्होंने कहा—'क्या आपके पल्ले कुछ पड़ा ?'

भक्त श्रीचिम्मनलालजीने कहा—'कहीं बारातमें जाते हैं। खूब बढ़िया-बढ़िया माल छकते हैं। खूब-खूब आनन्द लेते हैं परन्तु वहाँसे कुछ उठाकर घर लाने लगें तो लोग चोर-चोर कहते हैं। धर्मका प्रवचन पल्ले बाँधकर लानेके लिए होता है और प्रेम-भक्तिका वहीं रसास्वादन करनेके लिए। सेठजी! आप भी वहीं चलकर आनन्द लीजिये तब ज्ञात होगा। हम तो प्रतिदिन उसका मजा लेते रहते हैं।' ● ●

नहीं गिरती? क्या वहाँके मयूर, चातक, कोकिल तपस्वी हैं? न नाचते हैं, न 'पी कहाँ' बोलते हैं, न कुहू-कुहू करते हैं; क्या शिकारियोंने उन्हें मार डाला? यदि वे सब होते तो उन्हें देख सुनकर हरिके हृदयमें व्यथा नहीं होती?'

'सखि! तुम्हारे भ्रू-भंगके प्रभावसे ही जगन्मोहन-मोहन त्रिभंग-ललित हो गये। तुम्हारे नेत्रोंके अंजनसे वे साँवरे हो गये। तुम्हारे स्मित दामिनी, कामिनीने उन्हें वशमें कर लिया। वे तुम्हारे नामका आधा 'रा' या 'धा' सुनकर दीन-दीन हो जाते हैं। वे तुम्हारे मनोराज्यपर तालपूर्वक नाचते हैं।'

'सहेली! जबसे वह मधुर-मधुर कृष्ण नाम हमारे कानोंमें पड़ा है, तबसे देह-गेह आदि सब कुछ भूल गया। मैं बावरी हो गयी। आखें भर-भर आती हैं। चित्तको चैन नहीं है इत्यादि।'[1]

श्रीकृष्ण प्राणेश्वरी निकुञ्जेश्वरी श्रीराधा मानिनी हैं। मञ्जरी अपनी मधुर रचनासे मनाते-मनाते थक गयी है। कहती है—'प्रिय सहेली! रात्रि क्षीण हो गयी परन्तु तुम्हारा मान क्षीण नहीं होता। कोकिल-कण्ठि! प्रातः-काल लतावृक्षपर पक्षी कलरव करने लगे, तुम नहीं बोलती हो। कमल-कलियाँ हँसने लगीं, तुम मुस्कुराती तक नहीं हो। सुकुमार मृगी-कुमारनयने! प्रियतम तुम्हारे लिए पल्लवकी सेज सजा रहे हैं और तुम टेढ़ी होती जारही हो। तुम खिन्न क्यों हो रही हो? उदासीका विस्तार क्यों कर रही हो? इत्यादि।'

कसौटी पर स्वर्ण-रेखाके समान श्यामल तमाल-तरुसे लिपटी स्वर्णलता-सरीखी माधवके श्याम अंगसे आश्लिष्ट गौरांगी वृषभानु नन्दिनी अत्यन्त सुषुमा बिखेर रही हैं। जैसे विद्युल्लेखा चंचलता छोड़कर नील नीरदका आलिंगन कर रही हो, जैसे कनक-सुमेरुपर सुरसरित धारा हो; वैसे ही साक्षात् मन्मथ-मन्मथ भगवान् कृष्णके साथ कीर्ति-नन्दिनीकी शोभा होती है।

---

१. कृष्ण नाम जबतें स्रवन सुन्यौ री आली,
भूली री भवन हौं तो बावरी भई री।
भरि भरि आवैं नैन चितहूँ न परै चैन,
मुखहुँ न आवैं बैंन, तनकी दसा कछु और भई री॥
जेतिक नेंम व्रत कीनें री बहुत बिधि हौं तो भई मैं स्तौंन भई री।
नन्ददास जाके स्रौन सुनें यह गति माधुरी मूरति कैधौं कैसी दई री॥

स्वामिनीके मुख-चन्द्र पर माधवके नेत्र-युगल चकोर हो रहे हैं। हृदयेश्वरीके पाद-पद्मपर वे मधुप हो रहे हैं। उनकी जंघारूप पुलिनपर खञ्जनकी तरह नाच रहे हैं। श्रीराधा महाभाव-रस-सार हैं। उनके रस-सरोवर-रूप शरीरपर कृष्णके लोचन-युग्म मीन हो रहे हैं। माधुर्य सार-सर्वस्वकी स्वामिनी हैं राधा। उनकी दिव्य देहकान्तिके सुख-विपिनमें हरिन हैं कृष्णके अक्षि-युग्म।

चकोरस्ते वक्त्रामृत-
किरणबिम्बे मधुकर-
स्तव श्रीपादाब्जे
जघनपुलिने खञ्जनवरः।
स्फुरन्मीनो जातस्त्वयि
रससरस्यां मधुपते
सुखाटव्यां राधे त्वयि च
हरिणस्तस्य नयनम्॥
(रा० सु० नि० २०१)

अपनी प्राण-प्रेयसीके युगल कुच-कुड्मल पर अपना प्रतिबिम्ब देखकर महामोहन मोहित हो गये। अपनी प्राण-प्रेयसीसे ससम्भ्रम वोलते हैं—'प्रिये! यह तुम्हारे वक्षःस्थलपर दो किशोर चोर कौन हैं? इन्होंने सुन्दर नील इन्दीवरकी कान्ति-लहरी चुराकर अपनेमें रख ली है। क्या ये इस रूपमें मेरे मन-सम्मोहन हैं? अच्छा, अब तुम मुझे अपनी सखी बना लो, जिससे कि ये दोनों मेरा आलिंगन करें।' श्रीराधारानीके वक्षःस्थलपर अपनी ही छाया देखकर सम्मुग्ध माधवकी यह वाणी सुनकर वे मुस्कराने लगीं। उनकी मुस्कान हमारी रक्षा करे। (देखिये रा० सु० नि० २४५)।

ठीक इसी प्रकार श्रीराधारानी प्रेष्ठ-संगम महोत्सवसे आविष्ट होकर उनके समीप जाती हैं परन्तु प्रियतमके हृदयपर विराजमान कौस्तुभमणिमें अपना मधुराकार प्रतिबिम्ब देखकर शोकग्रस्त हो जाती हैं और तीव्र ईर्ष्या एवं क्रोधके वेगसे 'हटाओ'—ऐसा कहकर प्रियतमके पाणि-पद्मको दूर करके वाहर चली जाती हैं। आँखोंसे आँसू टपक रहे हैं। प्रिय सखीको अपने हृदयकी पीड़ा निवेदित कर रही हैं। 'स्वामिनी राधिके! मैं आपके वे वचन कव सुनूँगी?' सखी यह अभिलाष कर रही है।

सङ्गत्याऽपि महोत्सवेन
मधुराकारां हृदि प्रेयसः,
स्वच्छायामभिवीक्ष्य कौस्तु-
भमणौ संभूतशोका क्रुधा।
उत्क्षिप्य प्रियपाणिमेव विन-
येत्युक्त्वा गताया बहिः,
सख्यै सास्रनिवेदितानि
किमहं श्रोष्यामि ते राधिके॥
(रा० सु० नि० २४६)

ॐ

ध्यान का रहस्य

अनन्त श्री
• स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

१. मनमें आये बिना कोई वस्तु भासती नहीं। मन बिना चेतनका नहीं होता। इसको फिरसे समझ लें। चेतन ज्ञानस्वरूप आत्मामें मन भासता है। मनमें वस्तु भासती है। इन्द्रियोंके द्वारा वस्तुको अभी देख रहे हो या पहलेकी देखी हुई है, वह वस्तु गन्ध, रस, रूप, स्पर्श अथवा शब्दका आश्रय हो सकती है या सबका सम्मिलित-रूपसे आश्रय हो सकती है। अब आप ध्यान करनेके लिए चाहे गन्धके आश्रय एक मिट्टीके टुकड़ेको लें, रसके आश्रय जलको लें, रूपके आश्रय अग्निको लें, अथवा एक पुष्प ले लें जिसमें इन तीनोंके अतिरिक्त स्पर्श भी हो। उस वस्तुका जिस इन्द्रियके द्वारा ग्रहण हो रहा है, जैसे पुष्पके रूपदर्शनमें नेत्र। नेत्रवृत्तिके द्वारा वह पुष्प मनमें पहलेसे आया हुआ है या अब आ रहा है, चाहे कुछ भी हो; उसका रंग, रूप, आकृति, गन्ध, कोमलता, रसीलापन—सब कुछ मनमें ही भास रहा है। पुष्पके दर्शनकी क्रिया मनमें ही सम्पन्न हो रही है। अब आप मन ही मन बंद आँख या खुली आँख उस पुष्पको देखिये। जहाँ पुष्प दीख रहा

है, उस मनमें पुष्प बिना हुए भास रहा है। इस स्थानमें इतनी लम्बाई-चौड़ाईका, इस रंग, रूप, आकृतिका, इस गन्ध-रसका, इस नामवाला पुष्प इतनी देरतक दीखता रहा—यह सब केवल कल्पना है। मनमें दीखनेवाले फूलका न देश है, न काल है, न आकृति है, न भार है, न गुण है, न विशेषता है। आपका मन ही है जो फूलके रूपमें दीख रहा है। अब आप फूलको ऐसी दृष्टिसे देखिए कि फूलके कण-कणमें, क्षण-क्षणमें, रश्मि-रश्मिमें मन ही है। वस्तुतः फूल नहीं है, मन ही है। जब उस फूलके बिना आपका मन रह जायगा, तब वह अपनेको आपकी चेतनतासे पृथक् नहीं दिखायेगा। साकार मन ही दीखता है, निराकार मन नहीं। निराकार मन चेतनसे अभिन्न होता है। इस स्थितिको रहने दीजिए, जब तक रहे। इसमें विषयावच्छिन्न चैतन्य और मन अवच्छिन्न चैतन्यका भेद नहीं रहा। मनके चंचल होनेपर आपकी बुद्धि कहेगी कि आप चेतन हैं, आप मन हैं, आप फूल हैं अर्थात् आपके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं है। जो आप ध्यानमें थे, वही आप व्यवहारमें हैं। यह केवल फूलका ध्यान नहीं है, आप किसी भी विषयका इसी प्रकार अनुसन्धान करके ध्यानस्थ हो सकते हैं। इसका रहस्य यह है कि जहाँ वस्तुतः सर्प न हो और दीख रहा हो तो अवधानपूर्वक देखनेसे वह लुप्त हो जाता है और उसका अधिष्ठान रह जाता है। इसी प्रकार चेतन अथवा मनमें जो वस्तु विद्यमान नहीं है, वह सावधान होकर ध्यान देनेपर अदृश्य हो जाती है।

२. आप किसी एक इन्द्रिय-पर अथवा सब इन्द्रियोंपर ध्यान दीजिये। एक ज्ञान है जो स्थान-भेदसे भिन्न-भिन्न विषयोंको ग्रहण करता है। सभी गोलक स्थानीय है और वहाँ वासना-विशेषसे वासित ज्ञान ही इन्द्रियोंका काम कर रहा है। गन्ध-वासना, रस-वासना, रूप-वासना आदि वास-नाओंके पृथक्-पृथक् होनेपर भी ज्ञान एक ही है। शीशेके रंग अलग-अलग, रोशनी एक। आप किसी भी वासनाके साथ प्रयोग करके देख लीजिये। वासनाओंका उदय-विलय होता है। वे अलग-अलग होती हैं। ज्ञान एक है। किसी वासनाको भी इतने गौरसे देखिये कि उसमें ज्ञान ही ज्ञान दिखे, ज्ञानसे अलग वासना न दिखे। दक्षिणाक्षिमें पुरुषका दर्शन कीजिये अर्थात् इन्द्रिय-गोलक, मत देखिये, तदुपाधिक ज्ञान देखिये। गोलक, वासना, वृत्ति—यह सब ज्ञानमात्र ही हैं।

सभी इन्द्रियोंकी यही दशा है। वे ज्ञानमात्र हैं। आप ज्ञानमात्र हैं। इन्द्रियोंका अलग-अलग दीखना वन्द। केवल आप। ध्यान-कालमें ही नहीं, व्यवहार-कालमें भी आप ही। तत्तत् इन्द्रियों और उनके विषयोंके रूपमें भास रहे हैं।

३. दैहिक जीवनकी दृष्टिसे ही अन्तःकरण, वहिःकरणका भेद होता है। तात्त्विक जीवनमें इनका कोई सत्त्व-महत्त्व नहीं है। संस्क्रिया चित्त, विक्रिया मन, अहंक्रिया अहंकार और प्रक्रियाका नाम बुद्धि है। इनको क्रमसे खजाना, संकल्प, मैं-पना और निश्चय भी कह सकते हैं। यह समूचा अन्तःकरणके नामसे प्रसिद्ध है। जब आप परमार्थका कोई आकार मनमें बनाते हैं, बुद्धिमें उसका निश्चय करते हैं, वह मैं ही हूँ—ऐसा सोचते हैं या शान्त होकर बैठ जाते हैं तो ये चारों स्थितियाँ अन्तःकरणकी ही होती हैं। ये चेतनसे प्रकाशित हैं अर्थात् आप इनके द्रष्टा-साक्षी हैं। आपको द्रष्टा-साक्षी बनना नहीं है, होना भी नहीं है, केवल समझ लेना है कि आप असंग-उदासीन कूटस्थ-तटस्थ हैं। न आपको अन्तरमें घुसना है, न थोड़ी देरके लिए निष्क्रिय होना है, न दृश्यको देखने लगना है। यह सब अन्तर, थोड़ी देर और दृश्य तो आपकी दृष्टिकी चमक है। आप देखिये, कोई वस्तु ही नहीं है, दृष्टि ही है। जिस अन्तःकरणके पेटमें सब कुछ प्रतीत होता है उसमें तो संस्कार-युक्त ज्ञान-रश्मियोंके अतिरिक्त और कोई पदार्थ ही नहीं है। वह अन्तः-करण-रूप फिल्म आपमें आपसे ही प्रकाशित है। वस्तुतः आप ही हैं। अन्तःकरण और अन्तःकरणस्थ ईश्वर, जीव एवं देश-काल-द्रव्यात्मक जगत् विना हुए ही भास रहे हैं। गम्भीरतासे देखने पर फिल्म बिखर जायगी, केवल चेतन रहेगा, क्योंकि वह चेतनके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। अन्तःकरणकी फिल्ममें ही देश-काल-वस्तु सब हैं, चेतनमें नहीं। आप स्वयं अखण्ड चेतन हैं।

४. अच्छा, आप इसपर दृष्टि डालिये कि आप अन्तःकरणके द्रष्टा उससे पृथक् हैं। अब यह देखिए कि अन्तःकरण और आपके बीचमें तीसरी कौन-सी वस्तु है? वह अन्तःकरणका अभाव है। वह भी दृश्य है। एक कार्यरूप-दृश्यरूप है, एक बीज-विशिष्ट कारणरूप दृश्य है। अन्तःकरणमें जो चेतन है, वह जीव है। अन्तः-करणाभावमें जो चेतन है, वह ईश्वर है। आप भाव-अभाव दोनों-के ही द्रष्टा हैं। असलमें, यह बीज

वेदान्तकी सरलता

★

आपका 'मैं' क्या है ? क्या आपने समझ बूझकर अपनेको देह माना है ?

अच्छा, आइये, एकबार अपने 'मैं' को देहमेंसे निकाल लीजिये। आपका यह 'मैं' केवल ज्ञान है। न देह, न कर्मी। न भोगी, न योगी। न संसारी, न परिच्छिन्न।

अपने 'मैं'को देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न ब्रह्म समझ लीजिये, मान लीजिये।

अब आप ब्रह्म हैं। आपकी उम्र, लम्बाई, चौड़ाई या तात्त्विक स्वरूपमें यह प्रपंच क्या है ?

आपमें कुछ नहीं है या आप सब कुछ हैं। न कुछ टूटा, न फूटा, न बिगड़ा। उलटी बुद्धि सुलटी हो गयी। भ्रान्ति मिट गयी। सम्पूर्ण प्रपंच और उसमें भासमान देह भी आप ही हैं। परन्तु अब वह 'अहं' रहित जीवन्मुक्त है।

●●

और अंकुर क्या हैं ? अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य और अन्तःकरणाभावावच्छिन्न चैतन्यमें भेद ही क्यों है ? आप स्वयं साक्षी चैतन्य हैं। इस भेदका कारण आपका अपनी ब्रह्मताका अज्ञान ही है, अर्थात् आप ही अभावावच्छिन्न ईश्वर चैतन्य हैं और भावावच्छिन्न जीव चैतन्य हैं। चैतन्यमें अवच्छिन्नता-अनवच्छिन्नताका भेद नहीं है। अपने स्वरूपके ज्ञानमें भेदका लोप हो गया। ज्ञान भानका विरोधी नहीं है, भ्रमका विरोधी है। अब ईश्वर, जीव, अन्तःकरण और उसका अभाव भासने दीजिये। आपकी समाधि अखण्ड है, सहज है। आपके सामने ईश्वर, जीव, अन्तःकरण, जगत्—सब भास रहे हैं। आप अद्वय तत्त्व हैं।

●●●

शाङ्करभाष्य एक अध्ययन

• श्रीस्वामी सच्चिदानन्देन्द्र सरस्वती

[गताङ्कसे आगे]

३१. वेदान्तमें ब्रह्मातिरिक्त वस्तु-सत्य कुछ भी नहीं है। 'यह विशाल विश्व ब्रह्म ही है' (मु० २. २. १२)। 'जिसमें न दूसरेको देखता है, न दूसरेको सुनता है, न दूसरेको जानता है, वह भूमा है' (छा० ७. २४. १)। यह सब आत्मा ही है' (छा० ७. २.५२)। 'यह सब जो कुछ है वह सब साक्षात् अपरोक्ष आत्मा ही है' (बृ० २. ४. ६)। 'यह सब एतत् स्वरूप ही है, वही सत्य है, वही आत्मा है, वही तुम हो; (छा० ६. ८. ७)। यहाँ कुछ भी नाना नहीं है' (बृ० ४. ४. १९)। इन सब श्रुतियोंके द्वारा केवल ब्रह्म वस्तुका ही अस्तित्व प्रतिपादित होनेपर भी इस तत्त्वविज्ञानके पूर्व सभी लौकिक एवं वैदिक प्रमाण-प्रमेयका व्यवहार दर्शनानुसार स्वीकार है। यही कारण है कि वेदान्त - सिद्धान्तके अनुसार दृष्ट-व्यवहारका अपलाप नहीं किया जा सकता, जैसा कि शून्यवादीके सिद्धान्तमें होता है। इस व्यावहारिक अवस्थामें लोक-दृष्टि और शास्त्रदृष्टि—इन दोनों दृष्टियोंका आलम्बन लेकर प्रमाण आदिका विभाग मान्य होता है। स्वाभाविक राग-द्वेषादि युक्त दृष्टिको लौकिक कहते हैं। इसमें स्वाभाविक ज्ञानके अनुसार किये हुए कर्म अनर्थके हेतु होते हैं। जब इन्द्रियोंका निग्रह करके शास्त्रानुसार प्रवृत्ति की जाती है तब उसके आलम्बनभूत दृष्टिका नाम शास्त्र-दृष्टि है। इसका थोड़ा और भी विवेक कर लीजिए। जब नैसर्गिक बुद्धिका सहारा लेकर केवल प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके बलपर देहेन्द्रिय-संघातमें ही मैं-मेरेपनका अभिमान किया जाता है तब लौकिक दृष्टि होती है। जब शास्त्रका

अनुसरण करके देहेन्द्रियादिसे असम्पृक्त, कर्तृत्व-भोक्तृत्व रहित शुद्ध आत्मामें ही आत्मबुद्धि की जाती है, तब उसका नाम शास्त्र-दृष्टि है। शास्त्रदृष्टि, आर्ष दर्शन, पारमार्थिक दृष्टि—ये सब पर्याय हैं। इसी प्रकार लौकिक दृष्टि, स्वाभाविक दृष्टि, व्यावहारिक दृष्टि—ये सब भी पर्याय हैं। यही शास्त्र-दृष्टि परमार्थ तत्त्वदर्शनका रूप ग्रहण करके तत्त्वदर्शी आचार्यमें भी रहती है। इसलिए उसे आचार्य-दृष्टि भी कह सकते हैं। काठकोपनिषद्के २. २. १२ में 'अनुपश्यन्ति'का भाष्य करते हुए आचार्यने कहा है कि 'आचार्य और आगमके उपदेशके अनन्तर साक्षात् अनुभव करते हैं।' इसलिए अनुभवी आचार्यके उपदेशके अनन्तर साधकके लिए यही अनु-दर्शन हो जाता है। इस सम्बन्धमें वेदका यह कहना है कि स्वाभाविक-लौकिक दृष्टिका परित्याग करके शास्त्रदृष्टिसे श्रेयोमार्गमें चलना चाहिए। उसीसे अभ्युदय और निः-श्रेयस फलकी प्राप्ति होती है। यह अविद्या-भूमिकी बात है। आत्म-ज्ञानके पश्चात् प्रत्यक्षादि प्रमाण और शास्त्रोपदेशकी भी प्रवृत्ति नहीं होती।

ब्रह्मसूत्र भाष्य २. २. ३१ में कहा गया है कि यह लोक-व्यवहार प्रत्यक्षादि सभी प्रमाणोंसे सिद्ध है अतः इससे विलक्षण तत्त्वका अनु-भव हुए बिना इसका तिरस्कार करना शक्य नहीं है। अपवाद न होनेपर उत्सर्ग (पूर्वनियम) अपने काम करते रहते हैं।

गीताके १६. २३-२४ में भी यही बात कही गयी है कि कार्याकार्य-व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। तीसरे अध्याय चौंतीसवें श्लोकके भाष्यमें आचार्य कहते हैं कि पुरुष-की प्रकृति राग-द्वेषको सामने रख-कर ही कर्तव्यमें पुरुषको प्रवृत्ति करती है। यही कारण है कि मनुष्य स्वधर्मका परित्याग कर देता है और परधर्मका अनुष्ठान करता है। जब प्रतिपक्षी अभ्यास-से राग-द्वेष नियन्त्रित हो जाते हैं तब पुरुष शास्त्र-दृष्टि हो जाता है और प्रकृतिके अधीन नहीं होता।

ब्रह्मसूत्र २. १. २४ के भाष्यमें कहा गया है कि लोकदृष्टिसे अपने आप भी कार्य होता देखा जाता है, जैसे दूधका विकृत होना। परन्तु शास्त्र-दृष्टिसे सर्वत्र ईश्वरकी अपेक्षा बनी रहती है। इसी शास्त्र-दृष्टिका विवरण करते हुए ब्र० सू० १. १. ३० के भाष्यमें, इन्द्र शास्त्र-दृष्टिसे अपने आपको परमात्मा जानता हुआ उपदेश करता है—'मुझे ही जानो।' गी० १८. १७ के भाष्यमें भी लौकिक दृष्टिसे 'हत्वा'

और पारमार्थिक दृष्टिसे 'न हन्ति' कहा गया है।

ब्र० सू० भा० २. १. १४ में कुछ प्रश्न उठाकर उनका समाधान दिया गया है—

(१) यदि सर्वथा एकत्व स्वीकार किया जायगा तो नानात्व न होनेके कारण प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाण सर्वतोभावेन व्याहत हो जायँगे, जैसे स्थाणु आदिका ज्ञान हो जानेपर पुरुषादि ज्ञान नष्ट हो जाते हैं ?

(२) विना भेदके विधि-निषेध-परक शास्त्र भी नहीं रह सकते इसलिए भेद स्वीकार किये बिना उनका भी नाश हो जायगा ?

(३) मोक्षशास्त्र भी शिष्य-गुरु आदिके भेदकी अपेक्षा रखता है इसलिए भेदके बिना उसकी सिद्धि भी नहीं होगी ?

इनका उत्तर इस प्रकार है—जैसे जागनेके पूर्व स्वप्नका व्यवहार सत्य होता है, इसी प्रकार अपने आत्माको ब्रह्म जाननेके पूर्व सभी व्यवहार सच्चे होते हैं। जबतक परमार्थ आत्माके एकत्वका ज्ञान नहीं हो जाता तबतक प्रमाण, प्रमेय और प्रमारूप विकारोंमें किसीकी मिथ्या-बुद्धि नहीं हो सकती। सभी प्राणी अविद्याके कारण स्वाभाविक ब्रह्मात्मैक्यको छोड़कर विकारोंको ही आत्मा, आत्मीय—मैं, मेरा समझते हैं। अतः यथार्थ बोधकी उत्पत्तिके पूर्व सभी लौकिक-वैदिक व्यवहार युक्ति-युक्त हैं। जब कोई प्राकृत जन स्वप्नावस्थामें छोटे-बड़े भावोंको देखता है तो निश्चित ही वह प्रत्यक्ष-विज्ञान-सिद्ध मानता है। उनको वह उस समय प्रत्यक्षाभास नहीं समझता। जागनेपर वैसा समझता है। इसी प्रकार लौकिक-वैदिक सभी व्यवहार ब्रह्मज्ञानके पूर्व यथार्थ हैं।

३२. उपनिषदोंमें ब्रह्मका दो प्रकारसे प्रतिपादन मिलता है। (१) सोपाधिक (२) निरुपाधिक। सोपाधिक साकार अथवा सगुण है जैसे 'हिरण्यश्मश्रु, हिरण्यकेश एवं सर्वांग सुवर्ण (छा. १. ६. ६)। 'सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस' (छा. ३. १४. २) इत्यादि। निरुपाधिकका वर्णन है—'निष्फल, निष्क्रिय, शान्त, निरवद्य, निरंजन' (श्वेताश्वतर ६. १९)। 'नेति-नेति' (बृ. २. ३. ६)। इनमें निरुपाधिक ब्रह्मके वर्णनकी रीति पहले बतायी जा चुकी है। वह अध्यारोप और अपवादकी प्रक्रिया-से जाना जाता है। अब जिज्ञासुओंके मनमें यह प्रश्न अवश्य उठेगा कि सोपाधिक ब्रह्म इस प्रक्रियाका विषय कैसे हो सकता है ? यह भी प्रश्न है कि एक ही

वस्तु तत्त्वतः निरुपाधिक और सोपाधिक दोनों नहीं हो सकती, क्योंकि दोनोंमें उपाधिके राहित्य और साहित्यका विरोध है? विरुद्ध अर्थका बोधन करनेपर श्रुतिमें भी अप्रामाण्यका प्रसंग आता है। इस प्रसंगमें यह भी विचारका विषय हो सकता है कि सोपाधिक वाक्योंसे एकवाक्यता करनेके लिए निरुपाधिक वाक्योंको गौणार्थ माना जाय अथवा निरुपाधिक वाक्योंके अनुरूप सोपाधिक वाक्यों-को ही गौणार्थ मान लिया जाय? एक और प्रश्न सामने आता है कि सोपाधिक ब्रह्मविज्ञानका फलो-ल्लेख भी मिलता है। छान्दोग्य-के १.६.७, १.७.७और १.७.८में सोपाधिक ज्ञानसे सब पापोंका अतिक्रमण, लोकोंकी प्राप्ति, देव-भोगकी प्राप्ति, संकल्पकी पूर्ति आदि फल कहे गये हैं। इसी प्रकार निरुपाधिक ज्ञानका भी फल बताया गया है—'एकत्वदर्शीके शोक-मोह-की निवृत्ति' (ईशा० ७)। 'जन्म-मरण संसारसे मुक्ति' (मुण्डक) इत्यादि। अतः दोनोंमें-से किसी एकको छोड़ना और किसी एकको पकड़ना युक्तियुक्त नहीं जान पड़ता। इसलिए वेदान्तमें केवल एक ही प्रक्रिया है—ऐसा मानना अनुचित है, ऐसा कोई-कोई कहेंगे। अब इनका उत्तर सुनिये—

'अरूपवदेव हि तत्प्रधान-त्वात्' (ब्र. सू. ३. २. १४)। यह भगवान् बादरायणका निर्णय है। ब्रह्म निरुपाधि-स्वरूप है—ऐसा ही समझना चाहिए। वह रूपादि आकार-विशेषसे युक्त सोपाधि नहीं है। क्यों? यह इसलिए कि निरुपाधिक ब्रह्मके प्रतिपादक वाक्य वस्तु-स्वरूपका निश्चय करानेके लिए ही हैं। इसके भाष्य-में शंकराचार्य कहते हैं कि यदि दो प्रकारके वाक्योंमें विरोध हो तो 'कौन वाक्य प्रधानतासे किसका प्रतिपादन करता है? यह विभाग करके अप्रधानकी अपेक्षा प्रधान वचन बलवान् होते हैं'—इस न्याय-के अनुसार निश्चय कर लेना चाहिए। दोनों ही प्रकारकी श्रुतियाँ होनेपर भी आप ठीक-ठीक निराकार ब्रह्मको समझ सकेंगे, विपरीत निश्चय नहीं करेंगे।

अब प्रश्न यह हुआ कि फिर सोपाधिक वाक्योंकी क्या गति होगी? क्या वे निरर्थक हो जायँगे? इसका उत्तर भी वही देते हैं—**प्रकाशवच्चावैयर्थ्यम्** (ब्र. सू. ३. २. १५)। इसका अभिप्राय है कि आकार-बोधक वचन व्यर्थ नहीं हैं; क्योंकि वे वस्तु-बोधके लिए नहीं, उपासनाके लिए उपदेश करते हैं। आकार-विशेषके श्रवण-मात्रसे ही ब्रह्म परमार्थतः आकार-

मात्र नहीं हो जाता। अंगुली आदि-की उपाधिसे यदि प्रकाशको टेढ़ामेढ़ा कर दिया जाय तो यह समझ बैठना कि प्रकाशका स्वरूप ही टेढ़ा है—जैसे गलत है, वैसे ही उपाधिके कारण ब्रह्ममें साकारता है। यह बात पहले ही ब्र. सू. भा. ३. २. ११ में कही जा चुकी है कि उपाधियोंमें नाम-रूप-की जो विशेषता होती है वह अविद्या-कल्पित ही है। केनोपनिषद्के १. ५–६ **'यद्वाचा नभ्युदितं०'** तथा **'यन्मनसा न मनुते०'** इत्यादि मन्त्रोंमें यही बतलाया गया है कि वाणी एवं मनसे अगोचर निरुपाधिक ब्रह्म ही परमार्थ-स्वरूप है। उसमें स्पष्ट ही **'नेदं यदिदमुपासते'** कहकर उपासना-के विषय सोपाधिक ब्रह्मको अपर-मार्थ-स्वरूप उद्घोषित किया गया है। इससे भी ब्रह्मकी निरुपाधि-कता ही ग्राह्य है। यह जो कहा गया कि दोनोंमें फलोक्ति मिलती है, वहाँ यह भी स्पष्ट है कि सोपाधिक वचनोंमें बड़े-छोटे अनेक फल आविद्यक परिधिके अन्तर्गत ही हैं, परन्तु निरुपाधिक विद्याके प्रकरणमें सद्योमुक्ति—लक्षण एक ही फल है। इस अन्तर-पर भी ध्यान देना आवश्यक है।

ब्र० सू० ३. २. १५ के भाष्यमें ही आचार्यने कहा है कि उपाधिके कारण जो विशेषता प्रतीत होती है वह वस्तु-धर्म सिद्ध नहीं हो सकती। उपाधियाँ अविद्यासे प्रत्युपस्थापित हैं। नैसर्गिक अविद्या-के रहनेपर ही लौकिक अथवा वैदिक व्यवहारके प्रसंग उपस्थित होते हैं।

इस निरूपणसे यह स्पष्ट है कि ब्रह्मको जहाँ-जहाँ सोपाधिक कहा गया है, वहाँ-वहाँ केवल उपासनाके लिए ही वैसा उपदेश है। अविद्या-के अन्तर्गत होनेके कारण प्रक्रियामें कोई विरोध नहीं है।

केनोपनिषद् १।५ का शांकर-भाष्य देखिए। कहते हैं—ब्रह्म अव्यवहार्य, निर्विशेष, पर एवं सम है। उसमें वाक् आदि उपाधियोंका अध्यारोप करके ही वाक्का वाक्, चक्षुका चक्षु, श्रोत्रका श्रोत्र, मनका मन—ऐसा कहा जाता है। कर्ता, भोक्ता, विज्ञाता, नियन्ता, प्रशासिता, विज्ञान. आनन्द, ब्रह्म—ये सब व्यवहार भी इसी प्रकारके हैं। इन उपाधियोंका अपवाद करके अपने आत्माको निर्विशेष ब्रह्म जानो। यही 'एव' शब्दका अर्थ है। **'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि।'** तुम उपाधि-विशिष्ट जिस अनात्मा ईश्वर आदिकी उपासना एवं ध्यान कर रहे हो, वह ब्रह्म नहीं है।

ब्र० सू० भा० ३. २. २१ में आचार्यका वचन है कि उपासनाके

प्रसंगमें जो 'मनोमयः प्राण शरीरो भारूपः' (छा० ३. १४. २) आदि प्रपंचन है, उनका तात्पर्य विलयनमें नहीं है। उनका उपासना-ध्यान दीजिये। आचार्य यह कहना चाहते हैं कि जहाँ 'स क्रतुं कुर्वीत' इस प्रकारके विधि-प्रधान वाक्य हैं, वहाँ अध्यारोप—अपवाद

चाचाकी चपतका चमत्कार

महामहोपाध्याय श्री शिवकुमार शास्त्रीका जन्म काशीके निकट उन्दी ग्राममें हुआ था। बाल्यावस्थामें ही; पिताकी मृत्यु हो गयी। चाचा पालन-पोषण करने लगे।

चाचाने बालक शिवकुमार को भैंस चरानेके काममें लगा दिया। ग्यारह वर्षकी उम्र। चरवाहेके काममें उनका मन नहीं लगता था। कभी तालाबपर स्नान करके शिवजीकी पूजा करते; कभी कोई पुस्तक मिल जाती तो पढ़नेका प्रयत्न करते। एक दिन पुस्तक पढ़नेमें तन्मय बालकको चुपकेसे आकर चाचाने एक चपत मारी और डाँटा—

'चल, चल, भैंसोंकी देखभाल कर। मूर्ख! तू काम-धन्धे छोड़कर पतञ्जलि बनने चला है।' कठोर चपतकी चोटसे बालकका हृदय ग्लानि और पीड़ासे भर गया। बिना किसीको बताये रातों-रात काशी पहुँच गया। विश्वास, लगन, तन्मयता, ईश्वरभक्ति बालकके रोम-रोममें भरी थी। बड़े ही कष्टसे अपना बाल्यजीवन व्यतीत किया। वेद, वेदांग, दर्शनोंका इतना बड़ा विद्वान् उन-दिनों विश्वमें कोई दूसरा नहीं था। जितना वैदुष्य इन्होंने प्राप्त किया; वह अभूतपूर्व था। देशके बड़े-बड़े विद्वन्-मूर्धन्य इनके शिष्य हुए। ईश्वर कृपा और पौरुषके मेलसे एक असहाय बालक कितनी उन्नति कर सकता है, इसका एक यह उदाहरण है।

माता और चाचाके बहुत अनुनय-विनय करनेपर भी ये आजीवन कभी लौटकर अपने गाँव नहीं गये। ● ●

विधिके साथ सीधा सम्बन्ध है। इन गुणोंका उपासनाके साथ उपयोग हो जानेपर लक्षणाके द्वारा 'प्रविलय' अर्थ करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इस बातपर थोड़ा प्रक्रियाके अन्तर्गत उनका अर्थ नहीं करना चाहिए। उन्हें उपासनार्थक ही मानना चाहिए। उनका प्रयोजन दूसरा है—अन्तःकरणकी शुद्धि अथवा तत् पदार्थका शोधन।

ब्र० सू० भा० १. १. १२ में कहा है कि ब्रह्ममें जो उपास्य-उपासकादि व्यवहार है वह सब-का-सब अविद्या-अवस्थामें ही है।

ब्र० सू० भा० १. २. २० का अवलोकन कीजिए। शारीर (प्रत्यगात्मा) और अन्तर्यामीका भेद-निर्देश पारमार्थिक नहीं है, क्योंकि यह अविद्यासे प्रत्युपस्थापित कार्य-कारणरूप उपाधिके निमित्तसे है। प्रत्यगात्मा एक ही होता है, दो नहीं। उपाधिके कारण एकका ही दोके रूपमें व्यवहार होता है, जैसे घटाकाश और महाकाश। बस, इसी रीतिसे ज्ञाता, ज्ञेय आदिके भेदका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ, प्रत्यक्षादि प्रमाण, संसारानुभव, विधि-निषेध शास्त्र—सबकी सिद्धि हो जाती है।

इसका अभिप्राय यह है कि जीव और ईश्वरका औपाधिक भेद है। इसीसे उपास्य-उपासक भाव है। उपासना-विधायक वचनोंकी प्रामाणिकता भी इसीसे सिद्ध होती है। जीवको उपासनाका फल-भोग भी मिलता है। यह सब व्यावहारिक दृष्टि है।

यह भी अवधान देने योग्य है कि इनका फल भी कहीं पाप-क्षय है और कहीं ऐश्वर्य-प्राप्ति; कहीं क्रम-मुक्ति भी है। इससे यह सिद्ध होता है कि उपासना-वाक्य और ब्रह्मवाक्य इनका प्रकरण और अर्थ अलग-अलग मानना ही उचित है। इनको एकमें नहीं मिलाना चाहिए। (ब्र० सू० भा० ३. २. २१)

३३. विधि-निषेध-प्रधान वेद-वाक्योंसे विलक्षण हैं—वस्तु मात्र पर्यवसायी ब्रह्म-प्रतिपादक वचन। उन्हींमें अध्यारोप और अपवादकी शैलीसे विचार किया जाता है। यह बात स्पष्ट समझा दी गयी। उपासना-वाक्योंसे जिस ब्रह्मका उपदेश-निर्देश होता है, वह अविद्या-कल्पित नाम-रूप उपाधिसे युक्त होनेके कारण इस प्रक्रियाका विषय नहीं है; क्योंकि वह उपासना-विधिका शेष है, अर्थात् उपासना करनेके लिए वैसा रूप बताया गया है, परमार्थतः वैसा नहीं है। जिनका कहना है कि वेदोंमें ब्रह्मके केवल परमार्थ-स्वरूपका निरूपण करनेवाले वचन नहीं हैं, उनके मतका खण्डन वेदान्तको अभीष्ट है। देखिये, उपनिषद्का एक वचन—'**तदेतद्-ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमय-मात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः**' अर्थात् वह यही ब्रह्म है जिसमें पूर्व और पश्चात् = काल नहीं है, बाहर और भीतर = देश नहीं है, यह आत्मा ही ब्रह्म है—दूसरी वस्तु नहीं है, वह सर्व अनुभव स्वरूप है।

वह प्रत्यगात्म-स्वरूप अद्वय चेतन है—यह अभिप्राय है। वही काल और कालाभाव, देश और देशाभावका अधिष्ठान है। आत्मा है अर्थात् दृश्य जड़ नहीं है। सर्वानुभव-स्वरूप है माने कोई विशेष अवस्था नहीं है। अब आप विचार करके देखिये कि इस वाक्यमें ऐसा कोई पद नहीं है जिसका कर्मानुष्ठान अथवा कर्तृतन्त्र उपासनामें उपयोग हो सके। इसी प्रकारके वचन ब्रह्म-बोधक वचन कहे जाते हैं। यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि इन वाक्योंको विधिपरक या नियोग-परक माना जा सकता है। वाक्य-गत प्रत्येक पद निश्चितरूपसे ब्रह्मस्वरूपमें ही समन्वित होता है। वह यजमानके स्वरूप कर्ता, भोक्ता अथवा उपास्यके स्वरूप सगुण-साकारका वाचक नहीं हो सकता। यह भी नहीं है कि ऐसा ब्रह्म दूसरे प्रमाणोंसे सिद्ध हो और वेद उसका अनुवाद कर रहा हो। सच पूछो तो, वेद वस्तुका प्रतिपादन कहाँ करते हैं? वे तो सर्वविशेषों-का निराकरण करके उपक्षीण हो जाते हैं। इससे प्रमाण-प्रमेयके व्यवहारका निषेध अपने आप ही हो जाता है। यदि कोई कहे कि इन वाक्योंसे प्रतिपाद्य वस्तु है ही नहीं तो यह कहना सर्वथा अनुचित होगा; क्योंकि उसीको तो सबके आत्माके रूपमें बोधित करा रहे हैं। आत्माका निषेध कभी हो नहीं सकता। जो कहते हैं कि वाक्य-जन्य-ज्ञान निरर्थक होता है उनका कथन भी असत्य है; क्योंकि अविद्या आदि क्लेशोंकी निवृत्तिरूप ज्ञान-का फल प्रत्यक्ष है। इसलिए अध्यारोप-अपवादकी प्रक्रियासे समर्प्यमाण ब्रह्म आत्मवस्तु है और उसका ज्ञान परम पुरुषार्थ है।

ब्र० सू० भा० १. १. ४ देखिये। किसी-किसीका कहना है कि प्रवृत्ति-निवृत्तिके विधान और उनके शेषके अतिरिक्त केवल वस्तुवादी वेद-भाग नहीं हैं, परन्तु उनकी यह बात ठीक नहीं है। औपनिषद पुरुष किसीका शेष नहीं है। जो असंसारी पुरुष उपनिषदोंसे ही जाना जाता है, वह ब्रह्म है।

उसमें उत्पाद्य आदि चार प्रकारके द्रव्योंके लक्षण नहीं घटते। उसका प्रकरण पृथक् है और वह किसी विधि या नियोगके लिए उपयोगी नहीं है। उसके सम्बन्धमें यह कहना कि 'वह है ही नहीं' या 'अनुभवका विषय नहीं होता'—दोनों ही असत्य हैं। बृ० ३. ९. २६ में '**स एष नेतिनेत्यात्मा** से सबका निषेध करके उसको आत्मा कहा गया है। आत्माका प्रत्याख्यान (निषेध) अशक्य है। जो निरा-करण करता है वह उसीकी आत्मा

है। औपनिषद पुरुष कहनेसे यह सिद्ध होता है कि ऐसे आत्माका प्रतिपादन उपनिषदोंमें ही है। इसलिए वेद सिद्ध वस्तुका प्रतिपादन नहीं करता—ऐसा कहना साहस मात्र है।

वेद-वाक्योंका यह अर्थ भी निश्चित नहीं किया जा सकता कि वह कर्ताके स्वरूपका प्रतिपादन करते हैं। **'तत्केन कं पश्येत्'** (बृ० २. ४. १३)—इस श्रुतिमें क्रिया, कारक और फलका निराकरण है। सिद्ध वस्तु होनेपर भी अपरिच्छिन्न प्रत्यगात्मा ब्रह्मको प्रत्यक्षादिके द्वारा नहीं जाना जा सकता। तत्त्वमस्यादि शास्त्रवचनके बिना ब्रह्मात्मैक्य-बोध नहीं हो सकता। जो लोग त्याग-ग्रहणका वर्णन न होनेसे उपदेशको निरर्थक मानते हैं, उनका वैसा मानना युक्तियुक्त नहीं है। त्याग-ग्रहणसे रहित ब्रह्मात्मैक्य-बोध ही सारे क्लेशोंको मिटा देता है और पुरुषार्थको सिद्ध कर देता है। (ब्र० सू० भा० १. १. ४)।

इन प्रसंगोंमें वेदान्त-वाक्य कर्ता अथवा उपास्यके प्रतिपादक हैं, ब्रह्मज्ञान किसी दूसरे प्रमाणसे हो सकता है, वस्तुबोध निष्फल-निष्प्रयोजन है—इन सब आक्षेपोंका समाधान किया गया है।

बृ० भा० १. ४. ७ में कहा है कि आत्मस्वरूपका निरूपण करनेवाले वाक्योंसे सफल और निश्चित विज्ञानकी उत्पत्ति होती है या नहीं? यदि होती है तो उसको अप्रमाण क्यों मानते हो? क्या तुम्हें स्पष्ट नहीं दीखता कि विज्ञानकी उत्पत्तिके फलस्वरूप अविद्या, शोक, भय आदि संसार-बीजरूप दोषोंकी निवृत्ति हो जाती है? क्या तुम्हें वेदका यह उद्घोष नहीं सुनायी पड़ता कि **'को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः?'** क्या तुमने उपनिषद्का यह वचन नहीं सुना है कि 'मैं मन्त्रवित् हूँ आत्मविद् नहीं, इसलिए शोकग्रस्त हूँ, आप मुझे शोकसे पार पहुँचा दीजिये?' क्या कहीं विधि-शेष अर्थवादका विज्ञान ऐसा सप्रयोजन होता है? (बृ० भा० १. ४. ७)।

(क्रमशः)

● ● ●

गुरुका उपदेश भोजन है और उसे सुनकर पचा लेना-आत्मसात् कर लेना भजन है।

Ward Norton
American diplomat.
Sets out for top-level talks.
Always looks his best in
Raymond's
suitings
Raymond's suitings — Terool, Trovine and Pure Wool

श्रीगंगाधर शास्त्री सी० आई० ई०

विद्वानोंसे

महामहोपाध्याय विद्वद्वर मानवल्ली श्रीगंगाधर शास्त्री
सी. आई. ई.

आजकल संस्कृतविद्याके पठन-पाठन, निबन्ध-निर्माण और विचार-विमर्शके द्वारा प्रचार-प्रसारका जो प्रकार चल रहा है, वह प्रायः एक-एक विषयका आलम्बन लेकर। व्युत्पन्न विद्वान् एक-एक विषयका ही विवेचन करनेके लिए तद्विषयक स्व-पाण्डित्य प्रकाशित करनेके लिए प्रवृत्त होते हैं। वे इस प्रकारका प्रयत्न नहीं करते कि व्युत्पत्तिके इच्छुक पुरुष थोड़े अध्ययनके द्वारा अनेक विषयोंमें प्रवेश प्राप्त कर लें। इस कथनका यह अभिप्राय नहीं है कि हम एक-एक विषयके विद्वानोंका बहुत आदर नहीं करते। हम अत्यन्त सौहार्दके साथ उन्हें बतलाना चाहते हैं कि एक-एक विषयका श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त कर लेनेपर भी शास्त्रके अनेक विषयोंमें प्रवेश करना परम आवश्यक है। यह पिछली बात जैसी उपकारक है, वैसी पहली नहीं।

देखिए, भारतवर्षमें प्राचीन विद्वानोंकी विद्योपार्जन-शैली कैसी थी? महाभाष्यकारने श्रुति उद्धृत की है—'एक ब्राह्मणको निष्काम भावसे षडंग वेदका अध्ययन करना चाहिए और उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।' यदि वर्तमान समयके समान प्राचीन विद्वान् भी किसी एक विषय व्याकरणादि-वेदाङ्गकी ज्ञान-सम्पत्तिको ही अपना सर्वस्व मान बैठते और शपथ कर बैठते कि हम अपने विषयके अतिरिक्त किसी दूसरे विषयका स्पर्श नहीं करेंगे तो भगवती श्रुति ऐसा आदेश किसको देती। सचमुच वेदके एक-एक अंग भी विविध सुतर्क और दुस्तर्कोंसे समुद्भावित पूर्वोत्तर पक्षोंकी तरंग-परम्परासे ऐसे दुर्लङ्घ्य हो गये हैं कि जीवोंके लिए उनको पार पाना अशक्य है। जिन्होंने दूसरे अंगोंका लेशमात्र

भी पाण्डित्य सम्पादन नहीं किया, वे एक-एक अंगके पारदृश्वा विद्वान् होनेपर भी अपना अथवा विद्यार्थियोंका क्या हित सिद्ध कर सकेंगे। इस विषयपर परीक्षक स्वयं विचार करें।

उदाहरणार्थ यदि कोई सात मंजिलका महल बनाना चाहे और उसके लिए ऐसा सोचे कि पहले एक दीवार पूरी करके ही तब दूसरी प्रारम्भ करूँगा। इसका फल यह होगा कि पहले तो बिना सहारेके पहली भीत उतनी ऊँचाईतक खड़ा ही नहीं रह सकेगी और यदि अत्यन्त प्रयत्नसे स्थिर भी रहे तो उससे क्या फल होगा? यदि चारों भीतें एक साथ उठायी जाँय और एक मंजिल घर बनाने भर भी बन जाय तो उससे रहन-सहनमें सहायता मिल सकती है, उपयोग हो सकता है। बादमें भले ही अपनी रुचिके अनुसार दूसरी-तीसरी मंजिलका निर्माण करें, करायें; अधिकाधिक फल मिलेगा। यदि एक मंजिलका निवासस्थान बनाकर भी उसको अत्यधिक परिष्कृत करें, शीशा, चित्रादि सामग्रीसे सजायें तो और भी विशेष सुखकी प्राप्ति होगी। अतः बुद्धिमान् पुरुष ऐसा ही प्रयत्न करते हैं।

ठीक इसी प्रकार, यदि कोई पुरुष शास्त्रीय विविध विषयोंके ज्ञानसे सम्पन्न हो परन्तु लौकिक व्यवहारमें निपुण न हो तो वह बहुत उपयोगी नहीं होता; क्योंकि जीवनमें शास्त्रैकसाध्य पठन-पाठन, यजन-याजनकी अपेक्षा अधिक काल-तक लौकिक व्यवहार करनेकी आवश्यकता पड़ती है। अतः चाहे कोई कितना हो बड़ा विद्वान् क्यों न हो उसे लौकिक व्यवहारमें भी कुशलता प्राप्त करना आवश्यक है। हमारे स्मृतिकारोंने कहा है कि 'वह सभा यज्ञके समान धर्म-रूप होती है जिसमें लोक और वेद—दोनोंके ज्ञाता तथा धर्मके ज्ञाता ब्राह्मण सात, पाँच या तीनकी संख्या में बैठे हों।' इस वचनमें वेदज्ञ और धर्मज्ञके साथ-साथ 'लोक' शब्दका भी प्रयोग है। दूसरा वचन है—'परिषद् वही होती है जिसमें चार अथवा तीन लोक और वेदके ज्ञाता बैठें हों।'[1]

इन वचनोंसे सिद्ध होता है कि जो विद्वान् उन्नत पदपर आरूढ़ होना चाहते हैं, उन्हें यथासम्भव लौकिक और शास्त्रीय—दोनों ही विषयोंमें बहुज्ञता-सम्पादन करना चाहिए।

---

१. लोकवेदज्ञधर्मज्ञाः सप्त पञ्च त्रयोऽपि वा।
यत्रोपविष्टा विप्राः स्युः सा यज्ञसदृशी सभा॥
चत्वारो लोकधर्मज्ञाः पर्षत्त्रैवद्यमेव वा। इत्यादि॥

[ये हैं शास्त्रीजी महाराजके उद्‌गार। जो अबसे लगभग अस्सी वर्ष पूर्व अपने दार्शनिक काव्य 'अलि-विलासि-संलाप'की भूमिकामें प्रकट किये थे। उनका जीवनकाल विक्रम संवत् १९१० से १९७० तक है। वे अपने समयके वाराणसेय विद्वानोंमें अग्रगण्य थे। इसी उद्‌गारके साथ-साथ हम उनका 'हंसाष्टक' भी प्रकाशित कर रहे हैं।]

हंसाष्टकम्

ब्रह्माहं सत्स्वरूपं चितिसुखमविदन् माययाऽऽक्षिप्यमाणः,
तत्संपर्कापनुत्त्यै शरणमुपगतः सद्‌गुरुं ज्ञाततत्त्वम्।
श्रावं श्रावं तदुक्तीश्चिरतरमननापास्तदुस्तर्कजालः,
साक्षात्कारैकशेषाद्विगलितनिखिलोपप्लवोऽहं स एव॥ १॥

वस्तुतः मैं सत्स्वरूप चिदानन्द ब्रह्म ही हूँ। इस सत्यको मायाके कारण न जानकर विक्षिप्त हो गया (आवरण और विक्षेप—दो शक्तिवाली मायाने मेरे स्वरूपको आवृत करके देहादिरूप अनात्मामें आत्मबुद्धि करा दी)। उस मायाके संसर्गका परिहार करनेके लिए मैं ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानी गुरुकी शरण गया। बार-बार उनके सदुपदेशोंका श्रवण करके और चिरकालतक उनका मनन करके मैंने समस्त दुस्तर्क जालको दूर भगा दिया। तदनन्तर 'यत्साक्षाद्‌-परोक्षाद् ब्रह्म' के अनुसार अपने आत्माको साक्षात् ब्रह्म रूपसे अनुभव कर लिया। केवल वही रहा शेष। अशेष उपद्रव (आवरण, विक्षेप, द्वैत-भ्रम आदि) गल गये। मैं ज्यों-का-त्यों वह ब्रह्म ही रहा।

मृत्पिण्डं नीडमाप्यास्थिरचितमनिलान्दोलितं रन्ध्रपूर्णं,
हंसाश्रित्य प्रमाद्यँस्त्यजसि यदि सुखावाप्तहेतुं विचारम्।
वर्षैरल्पैरमुष्मिन् विदलति वितथीभूततत्स्थैर्ययत्नो,
विस्मृत्योच्चैर्गतिं स्वां त्वमशरणतयाऽधः पतन् शोचितासि॥ २॥

हंसपक्षमें : हे हंस! यह तुम्हारा मिट्टीका निवासस्थान—नीड या नीर अस्थिर बना है। हवा इसे हिला रही है। छिद्रोंसे भरपूर है। इसका आश्रय लेकर यदि तुम प्रमाद करोगे और सुन्दर आकाश-गमनरूप पक्षी-गतिका परित्याग कर दोगे तो थोड़े ही दिनोंमें यह नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा और उसकी स्थिरताके लिए जो प्रयत्न करोगे वह भी व्यर्थ हो जायगा। घरमें रहते-रहते गगन-गति भूल जायगी। उच्चगतिका भी विस्मरण हो जायगा। फिर न कहीं तुम्हारा घर, न कोई रक्षक, अधःपतित होकर शोक करोगे।

आत्मपक्षमें : हे आत्मदेव ! आप्य अर्थात् बल-विकार और अस्थियोंके द्वारा रचित मृत्पिण्डरूप यह शरीरका घोसला चार दिनकी चाँदनी है। प्राणादिकी शक्तिसे यह हिल-डोल रहा है और मुख-नासादि नौ छिद्रोंसे परिपूर्ण है। यदि इस निःसार और अपवित्र शरीरका आश्रय लेकर तुम प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञानका खण्डन करोगे और राग-द्वेषसे अभिभूत होकर आनन्द-ब्रह्मके साक्षात्कारके उपाय गुरुशरणागतिपूर्वक वेदान्त-विचारको छोड़ दोगे तो यह देह थोड़े ही दिनोंमें शिथिल हो जायगा। इसको स्थिर करनेके प्रयास व्यर्थ हो जायँगे। और तुम अपने सर्वोत्तम स्वरूपको भूलकर ऐसी स्थितिमें जा पहुँचोगे; जहाँ कोई सहायक नहीं, शरीरमें धर्मानुष्ठानकी शक्ति नहीं, मृत्यु सिरपर खड़ी है, ज्ञानोपार्जनका सामर्थ्य नहीं है और विवश होकर तुम अधःपतित नीच योनिगामी हो जाओगे और पश्चात्ताप करोगे।

हंस त्वां बन्धुकामां प्रकृतिमिह गुणैश्चित्तदेशेऽसुसिक्ते
प्रागुप्त्वा कर्मबीजं मधुरकटुफलं व्यस्य संसारवृक्षम्।
द्वेषेप्सामोहजालं विमतवसुवपुर्ग्रन्थि-विस्तारयन्तीं
दृष्ट्वा कृत्वा हताशां सुखमयमभय मानसं मा प्रहासीः॥ ३॥

हे आत्महंस ! यह प्रकृति तुम्हें बाँधना चाहती है। इसने जलस्थानीय प्राणोंसे तुम्हारे चित्तदेशको सींच दिया है। शुभाशुभ कर्मका बीज डाल दिया है। उसमें मधुर और कटु सुखदुःखरूप फल लगते हैं। यही संसारात्मक वृक्ष है। बाँधनेके लिए सत्त्व, रज, तम रूप जालसूत्र हैं। अनिष्टके लिए द्वेष, इष्ट धनके लिए लोभ, शरीरके लिए मोह और अनात्मामें आत्मबुद्धिरूप गाँठें लगा दी हैं। यह प्रकृति नहीं, लुब्धांगना शिकारीकी स्त्री है। इसको भलीभाँति पहचान लो और इसके फैलाये जालको निष्फल कर दो। अपने सुखमय-अभय निवास मानसका परित्याग मत करो।

विद्वान् कविने इस श्लोकमें बन्धनके हेतु प्रकृति और उसके फैलाये हुए बन्ध-जालको पहचाननेकी प्रेरणा दी है; क्योंकि पहचान लेनेपर प्रकृति फिर पुरुषके सम्मुख नहीं आती। कूटस्थ चिच्छक्तिरूप पुरुषका प्रकृतिके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। न वह 'मैं' है, न 'मेरी' है। सांख्यमतमें सत्त्व और पुरुषकी अन्यता-ख्याति ही परम पुरुषार्थका हेतु है।

प्रक्षीणे मेघवृन्दे विरमति च वृषे स्वामिनो निःस्पृहत्वात्,
अश्रोतव्ये द्विजानां वचसि च शिखिनां नारजस्यात्मलाभे।

काले सत्त्वान्यभावं गमयति चपलोन्मेषणे क्वापि याते,
योग्यालोक्यस्वरूपश्चिरमधिशयितं मानसं हंस मुञ्च ॥ ४ ॥

हंसपक्ष : मेघवृन्द प्रक्षीण हो गये। बैलोंको विश्राम मिला; क्योंकि स्वामी किसान निःस्पृह है। मयूरादि द्विजोंके वचन कर्कश लगने लगे। कमलको आत्मलाभ मिला। वर्षाकालकी निवृत्ति और शरद्की प्रवृत्ति होनेपर क्षुद्र प्राणियोंका अभाव-सा हो गया। बिजली नहीं चमकती। योग्य और दर्शनीय हो गया हंसका रूप। हे हंस! तुम बहुत दिन जिसमें सोये, उस मानसको अब छोड़ दो। इस भूमिपर उतर आओ।

आत्मपक्ष : मेरे अघवृन्द जो वैराग्यमें प्रतिबन्ध बने हुए थे, प्रक्षीण हो गये। सवमी अर्थात् पुरुषके निःस्पृह होनेके कारण वृषरूप धर्म विरामको प्राप्त हो गया है। केवल बीजरूपसे स्थित है अर्थात् फलोत्पादनमें असमर्थ है (ध्यान रखने योग्य है कि वेदान्त-मतमें अपवर्गसे पूर्व ही धर्म-अधर्मकी निवृत्ति हो जाती है परन्तु योगमतमें अपवर्गसे पूर्व केवल अधर्मकी ही निवृत्ति होती है, धर्म बीजरूपसे रहता है)। शिखि अर्थात् शिखा-सूत्रादिधारी ब्राह्मणोंके वैराग्यमें विक्षेप डालनेवाले कर्मप्रवर्तक श्रुतिवचन अश्रोतव्य हो गये। रजोगुण-रहित आत्मलाभ सम्पन्न हुआ। समयपर सत्त्व अर्थात् प्रकृति और पुरुषकी अन्यता-ख्याति स्पष्ट हो गयी। चपला प्रकृतिका संसाररूप उन्मेष कहीं चला गया। हे आत्महंस! तुम्हारा स्वरूप केवल योगियोंके द्वारा आलोक्य योगगम्य है। अब तुम चिरकालसे जिस मानसको अपना समझते रहे हो, उसको छोड़ दो।

सर्वेष्वङ्गेष्वविन्दन् खगतिषु विहितान्वेषणो वन्ध्ययत्नो
विश्वासादाप्तवाचां जलवपुषि भृशं भ्रान्तवान् मानसे च।
विज्ञाने तं विवेक्तुं सुचिरमनुसरन् त्वां विदेहेष्वपश्य-
न्नद्यानन्दैकतानं सकलकलतया निश्चितं हंसमीक्षे ॥ ५ ॥

हंसपक्ष : हे हंस! अंग देशके सभी विभागोंमें ढूढ़कर तुम्हें प्राप्त न कर सका। आकाशचारी पक्षी जहाँ उड़ते हैं, वहाँ भी तुम्हें अन्वेषण करके विफल-प्रयत्न ही होना पड़ा। विश्वसनीय पुरुषोंकी वाणीपर विश्वास करके जलात्मक मानसमें भी बहुत भटकता रहा। (कवि लोग मानस-सरोवरमें हंस होनेका वर्णन करते हैं परन्तु यह उनकी मान्यता मात्र है, वहाँ हंस मिलते नहीं) 'वि' अर्थात् पक्षियोंके ज्ञानमें जो निपुण हैं उनसे भी तुम्हारी पहचान प्राप्त करनेके लिए चिरकालतक अनुगमन किया। विदेह देशमें भी तुम्हें नहीं देख सका;

क्योंकि वहाँ भी कल-कल विद्यमान है। आज इस नदीमें जिसमें तुम कलरव कर रहे हो, आनन्दमत्त-रूपसे तुम्हें देख रहा हूँ।

आत्मपक्ष : हे आत्मदेव ! चार्वाकोंकी भाँति अन्न-परिणामरूप देहात्मक अन्नमय कोशमें तुमको माना और ढूँढ़ा परन्तु तुम नहीं मिले। इन्द्रियोंमें जिनसे गति आती है, उन प्राणोंकी प्रधानतासे स्थित प्राणमयकोशमें अनुसन्धान करके भी तुम्हें पानेमें सफल नहीं हुआ। बड़े-बूढ़ेकी बातपर विश्वास करके जडात्मक या जलात्मक मानस अर्थात् मनोमय कोशमें भी अत्यन्त भटकता रहा, तुम नहीं मिले। विज्ञानमय कोशमें भी शुद्ध स्वरूप तुमको ढूढ़नेके लिए चिरकाल प्रयास किया और विदेह देवताओंमें भी तुम नहीं दिखे। परन्तु आज सकल कलासे युक्त अथवा जगज्जन्मादि-कारणतासे उपलक्षित आनन्दमय कोशसे भी विलक्षण आनन्दमात्र-रूपसे मैं तुम्हारा साक्षात्कार कर रहा हूँ, अर्थात् मैं ही आनन्द-स्वरूप तुम हूँ—यह अनुभव कर रहा हूँ।

> शाखाः सर्वागमानां सततमधिवसन् ज्ञात आरण्यकोक्त्या,
> कामद्भिः सप्तभूमीः पवनविजयिभिर्योगमार्गेऽनुयातः।
> संदृष्टस्तारनादश्रुतिमनुसरसो मूर्ध्नि पद्मे निरीह-
> श्चित्तानन्दस्वभावो लसदतुलगतिर्हन्त लब्धः स हंसः ॥ ६ ॥

हंसपक्ष : जो सदा सब अगम वृक्षोंकी शाखापर निवास करता है परन्तु जानकार वनवासियोंके वचनसे पहचाना जाता है; सात शृंग पार करनेवाले, वायुवेगको भी जीतनेवाले अन्य हंस इस हंसका अनुगमन करते हैं; जो पर्वत मार्गपर चलता है, तार-स्वरका श्रवण होनेके बाद जिसका दर्शन होता है, सरोवरके ऊपर स्थित पद्मपर जो निश्चल निवास करता है, जिसका स्वभाव चित्तके लिए आनन्ददायी है, जिसकी चाल अतुलनीय है; अहो ! आनन्द है ! आज वही हंस मिल गया।

आत्मपक्ष : हंस आत्मा है। उसके स्वरूपका प्रतिपादन सभी आगम शाखाएँ करती हैं। परमात्माके स्वरूपको प्रकाशित करनेवाली आरण्यक, उप-निषद् वाणीके द्वारा वह ज्ञात होता है। पवनविजयी सप्त भूमियोंका अतिक्रमण करनेवाले स्वरूपसाक्षात्कारशाली योगीगण उसका विवेचन करते हैं। अकार, उकार, मकार—इस त्रिमात्र ओंकारसे अभिव्यक्त नादस्वरूपकी उपलब्धिके अनन्तर शिरोदेशमें स्थित सहस्रारपर जिसका चिन्तन किया जाता है। जो आप्तकाम होनेके कारण निरीह, निष्काम है। जो सच्चिदानन्द-स्वरूप है। जहाँ

जाकर लौटना नहीं होता। जिसको जान लेनेपर कुछ जानना शेष नहीं होता। अहो! आनन्द है! आनन्द है! आज वही परमात्मा आत्माके रूपमें मिल गया।

चित्रं निष्पक्षपातोऽतिशयविशदभा नित्यमुक्तोपभोगो
व्याहृत्यादौ त्रिमात्रं पदममृतफलं सर्वदाऽऽस्वाद्य तृप्तः।
योगाङ्गोपास्तिशुद्धैश्चिरमनुहसं वीक्षितो दिव्यवर्न्यां
हंसोऽद्य स्वान्तरङ्गे विहरति सततं चित्रकूटस्थरूपः॥ ७॥

हंसपक्ष : इस हंसके पक्ष कभी गिरते नहीं। इस श्वेत पक्षीकी प्रभा अत्यन्त विशद है। यह नित्य मौक्तिकका उपभोग करता है। भोजनके पूर्व ऊँचे स्वरका उच्चारण करके अमृत फलका आस्वादन करता है और सदा तृप्त रहता है। गंगाजलकी उपासनासे शुद्ध दिव्य नन्दनवनवासी देवता चिरकाल तक एकान्तमें इसका दर्शन प्राप्त करते हैं। चित्र-विचित्र शिखरवाले चित्रकूट पर्वत-पर यह विहार करता है। आश्चर्य है, आश्चर्य है कि आज यह आश्चर्यजनक हंस अपनी रंगशालामें अपनी शोभा विकीर्ण करता हुआ क्रीडा कर रहा है।

आत्मपक्ष : यह आत्म-हंस निष्पक्षपात है! निस् अर्थात् निःसंग होनेके कारण इसका न किसीसे राग है, न द्वेष। सूर्य, अग्नि आदि निखिल ज्योतियोंसे अधिक प्रकाशमान ज्योतिःस्वरूप है। नित्य मुक्त है और अपभोग अर्थात् भोग-शून्य है। व्याहृतियोंके पूर्व प्रयुज्यमान त्रिमात्र ओंकारका अनुसंधान करके सवदा अमृतफलका आस्वादन करता है और तृप्त रहता है। एकान्तमें योगांगोंके अभ्याससे शुद्धान्तःकरण पुरुषोंके द्वारा स्वर्ग और पृथिवीमें सर्वत्र देखा जा सकता है; क्योंकि वह सर्वव्यापी है। वस्तुतः इसका स्वरूप कूटस्थ है, तथापि भ्रान्ति-वश लोग इस निर्गुण-असंगको सगुण और संगवान् देखते हैं। यह क्या ही आश्चर्य है? ऐसा शुद्ध बुद्ध-मुक्त हंस-आत्मा मेरे अन्तरंगमें अविच्छिन्न विहार कर रहा है। आश्चर्य है! आश्चर्य है!!

जातिं श्लाघ्यामनिच्छन् विगलितकुतुकः प्रांशुवंशेषु वस्तुं
पुन्नागेभ्यो विरक्तः कुरवविरसधीर्निःस्पृहो बन्धुजीवे।
रम्भायां वीतलोभः कुवलयमभजन् मुक्तपद्मानुरागो
हंसः संप्रत्यशोके विरचयति पदं माधवस्य प्रसादात्॥ ८॥

हंसपक्ष : यह हंस श्लाघनीय जाती-लताकी सुगन्ध नहीं चाहता। उच्चतर वंशोंमें निवास करनेका इसे कोई कौतूहल नहीं है। यह पुन्नाग वृक्षोंसे भी विरक्त

है और कुरवकमें इसके लिए कोई रस नहीं रहा। बन्धुजीवसे निःस्पृह है। रम्भामें कोई लोभ नहीं है। कुवलयकी सेवा नहीं करता। पद्मानुरागसे भी मुक्त हो गया है। माधव अर्थात् वसन्त ऋतुका ऐसा प्रसाद है कि अब वह अशोकका ही निवासी हो गया है।

आत्मपक्ष : अब आत्महंसको अपनी श्लाघनीय ब्राह्मणत्वादि-रूप जातिकी इच्छा नहीं है। अपने श्रेष्ठ कुलमें निवासका भी सुख न रहा। श्रेष्ठ पुरुषोंके सम्पर्कमें भी राग नहीं है! कुरव अर्थात् असत् शास्त्र, उद्वेजक शब्द अथवा खलोंके सम्पर्कसे बुद्धि उपराम हो गयी है। पुत्र-कलत्रादि बन्धुओंके जीवन-मरणमें भी यह निःस्पृह है। दिव्यांगना रम्भामें भी इसकी रुचि नहीं है। कुवलय अर्थात् पृथिवी-मण्डलको भी नहीं चाहता। पद्मा = लक्ष्मीके प्रति भी इसने अनुरागका त्याग कर दिया है ऐसी है इसकी वैराग्यकी दृढ़ता। श्रीमाधवके प्रसादसे यह हंसात्मा अपने शोकाभावोपलक्षित स्वरूपभूत निरतिशय सुखमें अवस्थित हो गया है।

> सोपानं सांख्ययोगोपनिषदभिहितार्थानुभूतिक्रमाणां
> साहित्योल्लाससीमागतसरलतरश्लेषसौन्दर्यसारम् ।
> ज्ञात्वा हंसाष्टकं मेऽवहितशुचिमनोवृत्तिभिः पूर्णकामा
> भूयासुर्वीतमोहा इति तमनुभवन् वक्ति गङ्गाधरः शम् ॥ ९ ॥

यह सांख्य, योग और वेदान्तके अनुभव-क्रमोंपर आरोहण करनेका सोपान है। साहित्योल्लासकी सीमापर विराजमान, सरलतर श्लेषका सौन्दर्यसार इसमें निहित है। इसका नाम है हंसाष्टक। जो मेरे इस हंसाष्टकका एकाग्र और पवित्र मनोवृत्तिसे ज्ञान प्राप्त करेंगे, वे पूर्णकाम और मोहमुक्त हो जायेंगे। इसका अनुभव करके गंगाधर यह कह रहा है।

● ● ●

दुःख न चाहने पर भी स्वयं मिलता है, इसी प्रकार सुख भी अपने-आप मिलता है। अतः सुख दुःख दोनोंके लिए प्रयत्न न करे। प्रयत्न उसके लिए करे जो सुख-दुःखका दाता है। वह परमात्मा बिना चाहे नहीं मिलता, यही उसकी मर्यादा है, नियम है।

● ●

समय था त्रेता। उन दिनों राजर्षि हरिश्चन्द्र पृथिवीके रक्षक राजा थे। ऐसे धर्मात्मा थे वे कि उनके राज्यमें दुर्भिक्ष, व्याधि और अकाल मृत्युका नाम तक नहीं था। प्रजाकी रुचि अधर्ममें नहीं थी। कोई धन, वीर्य, तपस्याका मद नहीं करता था। स्त्रियोंको अपने यौवनका सम्पूर्ण सुख प्राप्त होता था। जन-जन सुख एवं समृद्धिके भवन थे।

वे किसी समय वनमें गये—हरिनका पीछा करते हुए। कहींसे स्त्रियोंका करुण-क्रन्दन कानोंमें पड़ा। 'त्रायस्व, त्रायस्व'—बचाओ, बचाओ। राजाने हरिनका पीछा छोड़ दिया। उसी शब्दकी ओर चल पड़े। ऊँचे स्वरसे बोले—'मत डरो—मत डरो। मेरे शासनमें ऐसा अन्यायी कौन है?'

बात यह थी कि विश्वामित्र अपनी तपस्याके द्वारा ऐसी विद्या-सिद्धि प्राप्त करना चाहते थे, जो रुद्रादि देवताओंको भी प्राप्त नहीं है। विघ्नराजकी प्रेरणासे उन विद्याओंने ही करुण-क्रन्दन किया था। अब

हरिश्चन्द्रकी सत्य-निष्ठा

विघ्नराजने राजर्षि हरिश्चन्द्रके शरीरमें प्रवेश किया। वे अभिमान-मदसे मानो गरजने लगे। 'कौन है ऐसा पापी, जो अपने दुपट्टेके छोरमें आगको बाँधना चाहता है? मैं उसके शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर दूँगा।' हरिश्चन्द्रका रोम-रोम क्रोधसे आगबबूला हो रहा था।

विश्वामित्र हरिश्चन्द्रकी बाण-वाणीसे अपविद्ध होकर क्रोधान्ध हो गये। विद्याएँ अदृश्य हो गयीं। विश्वामित्रने कहा—'ठहर दुष्ट! देखता हूँ।' हरिश्चन्द्र उनके चरणोंमें गिर पड़े। 'स्वामी! यह मेरा धर्म है, अपराध नहीं। आप मुझपर क्रोध न करें। दान, रक्षा और युद्ध, धर्मज्ञ राजाका कर्त्तव्य है।'

विश्वामित्र—'अच्छा, यदि तू अधर्मसे डरता है, तो बता, किसे देना चाहिए? किसकी रक्षा करनी चाहिए? और किसके साथ युद्ध करना चाहिए?'

हरिश्चन्द्र—'ब्राह्मण एवं जीविकाहीनको देना चाहिए। भयभीतकी रक्षा करनी चाहिए और आततायी शत्रुओंसे युद्ध करना चाहिए।'

विश्वामित्र—'अच्छा, देखो, राजा! मैं हूँ ब्राह्मण। तुम हो धर्मज्ञ। मैं अब एक स्थानमें रहना चाहता हूँ। तुम मुझे मुँहमाँगी दक्षिणा दो।' हरिश्चन्द्रकी अन्तरात्मा हर्षसे भर गयी, जैसे दूसरा जन्म हो गया हो बोले—'निःशंक माँगो, महाराज! दुर्लभसे दुर्लभ तुम्हारे लिए सुलभ है। सोना-चाँदी, पुत्र-कलत्र, शरीर-प्राण, राज्य-राजधानी, लक्ष्मी और चाहे जो कुछ। माँगनेसे पहले दे दिया।'

विश्वामित्र—'तुमने दिया और मैंने लिया। मेरी राजसूयकी दक्षिणा पहले चुकाओ।'

हरिश्चन्द्र—'वह भी लेना। पहले अभीष्ट माँगो!'

विश्वामित्र—'पत्नी, पुत्र, शरीर और धर्म—इन चार वस्तुओंको छोड़कर बाकी सब कुछ मैंने ले लिया।'

हरिश्चन्द्र—'अनुग्रह है।' उनके मुखपर विकारकी एक रेखा भी नहीं उभरी। जब वे वहाँसे चलने लगे, तब विश्वामित्रने कहा—'राजसूय-दक्षिणा दिये बिना कहाँ जाओगे?'

हरिश्चन्द्रने 'एक महीनेमें दूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा की। पत्नी-पुत्रके साथ चल पड़े पैदल। प्रजा व्याकुल हो गयी। 'हमें क्यों छोड़ रहे हो? तुम जहाँ रहोगे, वहीं हम रहेंगे।' प्रजाकी पीड़ा देखकर हरिश्चन्द्र थोड़ी देरके लिए ठिठक गये। क्रोधसे तिलमिलाते हुए विश्वामित्रने डाँटा—'तू झूठा, कपटी, दुष्ट है, धिक्कार है तुझे। दान करके लेना चाहता है।'

हरिश्चन्द्रका शरीर भयसे काँपने लगा। उन्होंने पत्नीका हाथ पकड़ कर घसीटते हुए शीघ्र चलनेकी चेष्टा की।

सारी पृथिवीके सम्राट्। अयोध्या राजधानी। सब कुछ दे चुके। अब, कहाँ जायँ? मनमें आया—काशी त्रिलोकीसे निराली है। शूलपाणि शंकरकी निवास-स्थली। त्रिशूलपर विराजमान। वह मेरे राज्यसे बाहर है। पत्नी-पुत्रके साथ पैदल चलकर वहीं पहुँचे। वाराणसीके द्वारपर विश्वामित्र उपस्थित थे। हरिश्चन्द्रने अपनी परिस्थितिके अनुसार उनका स्वागत-सत्कार किया। बोले—'यह रही पत्नी, यह पुत्र और यह मेरे प्राण। आप अपनी पूजामें चाहे जो स्वीकार कीजिये या और कोई आज्ञा दीजिये।'

विश्वामित्र—'वह मास पूरा हो गया। अपने वचनका स्मरण है न! मेरी दक्षिणा दे दो!'

हरिश्चन्द्र—'अभी आधा दिन शेष है, भगवन्!'

विश्वामित्र—'आज ही नहीं देगा तो भस्म कर दूँगा।'

हरिश्चन्द्र चिन्तामें पड़ गये। मैं अपनी प्रतिज्ञा कैसे पूरी करूँगा? न मित्र हैं, न धन। कहाँ जाऊँ, क्या करूँ? प्रतिज्ञा पूर्ण किये विना मर जाऊँ तो नरक मिलेगा। अच्छा, अपने आपको बेच देता हूँ।' अश्रुपूरित कण्ठसे पत्नीने कहा—'स्वामी! आप निश्चिन्त होकर अपने सत्यका पालन कीजिये। इससे बड़ा कोई धर्म नहीं है। सत्य बिना मनुष्य श्मशान है। जिसका वचन असत्य हो गया, उसका सब धर्मानुष्ठान व्यर्थ गया। सत्य संसारसे पार करता है! असत्य गिराता है। राजा क्रांत सात अश्वमेध और राजसूय-यज्ञ करनेके पश्चात् भी केवल मिथ्या भाषणके कारण स्वर्गसे च्युत हो गये थे।' रानीकी आँखोंसे झर-झर आँसूकी धारा गिरने लगी। हरिश्चन्द्रने आश्वासन देकर पूछा—'तुम क्या कहना चाहती हो?'

रानी—'स्वामी! विवाह करनेका फल है—पुत्रोत्पत्ति मेरे। सन्तान हो चुकी है। मुझे आप बेच दीजिये और ब्राह्मणकी दक्षिणा चुका दीजिये।' एकबार राजा मूर्च्छित हो गये। सुध आनेपर बोले—'ऐसा दुर्वचन तुम क्यों कहती हो? क्या मैं यह स्वीकार कर सकता हूँ? मुझे धिक्कार है!' राजा-रानी दोनों मूर्च्छित हो गये। इसी समय विश्वामित्र आ पहुँचे। पानी छिड़ककर मूर्च्छितोंको जगाया। फटकारकर बोले—'उठ-उठ, अपने सिरपर ऋण रखनेसे दिनोदिन दुःखकी वृद्धि होती है।' राजा फिर मूर्च्छित हो गये।

विश्वामित्र ने कहा—'सत्यके बलपर सूर्य तपता है। सत्यके बल पृथिवी स्थिर है। सत्य परम धर्म है। सत्यमें ही स्वर्गकी प्रतिष्ठा है। यदि तराजूके एक पलड़ेपर सहस्र अश्वमेध रखे जायँ और दूसरेपर केवल सत्य रखा जाय तो सत्यका ही पलड़ा भारी होगा। बस, बस, तुम्हारे-जैसे दुष्ट राजासे कुछ कहना व्यर्थ है। आज सूर्यास्त तक यदि मुझे दक्षिणा नहीं मिल जायगी तो मैं तुम्हें अवश्य शाप दे दूँगा।' राजा डरसे थर-थर काँपने लगा। रानीने राजाको समझाया—'इनके शापसे मरनेकी अपेक्षा तो मुझे बेच देना ही अच्छा है। बार-बार कहनेपर हरिश्चन्द्रने

कहा—'ठीक है। बड़े-बड़े क्रूर भी जो काम नहीं कर सकते, वह मैं करूँगा।' आँखोंसे अश्रुधारा गिरती जा रही थी और राजा नगरके पथपर ऊँचे स्वरसे बोलते जा रहे थे।

'नगरके निवासियो! मेरी प्रार्थना सुनो। मुझसे यह मत पूछो कि तुम कौन हो? मैं एक क्रूर अमानव राक्षस हूँ। मैं घोर, कठोर पापी हूँ। मैं मर नहीं रहा हूँ। अपनी पत्नीको बेचना चाहता हूँ। यह मेरी प्राणोंसे भी प्यारी है। यदि इससे आपकी कोई सेवा बन सकती हो तो खरीद लीजिये।' एक बूढ़ा ब्राह्मण आया। उसने कहा—'मेरी पत्नी सुकुमारी है। घरका काम नहीं कर सकती तुम धन ले लो और अपनी पत्नी मुझे दे दो।' हरिश्चन्द्रके 'हाँ' कहनेपर उसने बहुत-सा धन दे दिया और रानीके केश पड़ककर घसीटने लगा। नन्हा-सा रोहिताश्व अपनी माताकी यह दशा देखकर साड़ी पकड़कर खींचने लगा और ऊँचे स्वरसे रोने लगा। माताने वृद्ध ब्राह्मणसे अनुनय-विनय किया कि 'मुझे बच्चेको एकबार देख लेने दीजिये।' रानीने पुत्रसे कहा—'बेटा! अब मैं दासी हो गयी हूँ। मेरा स्पर्श मत करो। बालक 'माँ-माँ' करके चिल्लाये, रोये। बूढ़े ब्राह्मणने उसे डाँटकर एक लात मार दिया। फिर भी बच्चेने अपनी माँको नहीं छोड़ा। माँने बूढ़े ब्राह्मणसे कहा—'आप इस बालकको ही खरीद लीजिये। इसके बिना मैं आपके किस काम आऊँगी। मैं अभागिन हूँ। आप मुझपर प्रसन्न हों। मैं गाय हूँ। मुझे मेरे लालसे अलग न करें।'

वृद्धने बालकको भी खरीद लिया और माँके साथ बाँध दिया। हरिश्चन्द्रकी लम्बी साँस चलने लगी। 'जो अन्तःपुरमें अदृश्य होकर रहती थी, उसकी आज यह दुर्दशा कि दासी हो गयी। यह सूर्यवंशका राजकुमार आज बेच दिया गया। मुझ दुर्मतिको धिक्कार है। हा, प्रिये! हा, वत्स! यह सब होनेपर भी मेरे प्राण नहीं निकलते हैं।'

ब्राह्मण रानी और राजकुमारको लेकर चला गया। विश्वामित्रने सब धन लेकर कहा—'तुम बस, इतनी ही दक्षिणा मेरे योग्य समझते हो। अब मैं शाप देकर बताऊँगा कि मेरी तपस्याका कितना प्रभाव है?' हरिश्चन्द्रने कहा—'भगवन्! और दूँगा। थोड़ी प्रतीक्षा कीजिये। विश्वामित्रने कहा—'एक प्रहर दिन बाकी है। इसके बाद तुम कुछ नहीं बोल सकते।' हरिश्चन्द्र वाराणसीके राजपथपर घोषणा करने लगे—'क्या मुझे अपनी सेवा करनेके लिए कोई खरीद सकता है?'

एक चाण्डाल सम्मुख उपस्थित हुआ। शरीरपर दाढ़ी-मूँछ, दुर्गन्ध फैल रही। बड़े-बड़े दाँत। काला रंग, लम्बा पेट, रूखी आँखें। हाथमें खोपड़ी। अत्यन्त भयंकर, कुत्तोंसे घिरा हुआ। परुष वाणी, उसने कहा—'मैं किसी भी मूल्यपर तुम्हें खरीद लूँगा। मेरा नाम प्रवीर है। मैं अपराधियोंको फाँसीपर लटकाता हूँ। शवका वस्त्र लेता हूँ।'

हरिश्चन्द्रने कहा—'मैं चाण्डालका दास होना पसन्द नहीं करता।'

विश्वामित्रजी आ धमके। क्रोधसे नेत्र फटे-फटे। डाँटा—'इतना धन मिल रहा है और तू अपनेको बेचता नहीं।'

हरिश्चन्द्र—'महाराज! मैं सूर्यवंशी होकर चाण्डालदास कैसे बनूँ।'

विश्वामित्रने कहा—'तुम अपनेको बेचकर सारा धन मुझे नहीं दे देते तो मैं अवश्य शाप दूँगा।'

हरिश्चन्द्रने चरण पकड़ लिये। 'महाराज! महाराज! मैं आपका दास हूँ। पराधीन हूँ। आपको सब सेवा करूँगा। मुझे आप ही अपना दास बना लीजिये।'

विश्वामित्रने कहा—'यदि तुम मेरे दास हो तो मैं तुम्हें चाण्डालके हाथों बेचता हूँ।' चाण्डालसे एक अरब मुद्रा लेकर विश्वामित्र चले गये। हरिश्चन्द्र दास होकर चाण्डालके घर रहने लगे। वे सदा अपनी पत्नी और पुत्रका चिन्तन करते और मन-ही-मन सोचते—'मैंने अपनी पत्नीको बेच दिया, परन्तु उसने मुझे बुरा नहीं समझा। सब कुछ गया। मैं चाण्डाल हो गया। चाण्डालने उन्हें आज्ञा दी—'यहीं श्मशानमें रहो। जो शव आवे उनका वस्त्र ले लिया करो। यहाँ जो कुछ मिलेगा, उसमें, छठा भाग राजाका, तीन भाग मेरा और दो भाग तुम्हारा वेतन।'

हरिश्चन्द्र श्मशानमें रहने लगे। वे प्रत्येक शवके सम्बन्धमें इसी प्रकारका चिन्तन करते। इस प्रकार एक वर्षका समय व्यतीत हो गया।

श्मशान भूमिमें रात्रिके समय रूखे-सूखे भूखे हरिश्चन्द्र सो गये। एक ऐसा भयंकर स्वप्न देखा, जिसमें कष्ट-ही-कष्ट बारह वर्षतक स्वप्नमें कष्ट भोगकर उठे तो साथवालोंसे पूछा—'क्या मुझे बारह वर्ष हो गये?' लोगोंने कहा—'कोई ऐसी बात नहीं है।' हरिश्चन्द्रने **'नमो धर्माय महते, नमः कृष्णाय वेधसे'** कहकर धर्म और भगवान्को नमस्कार किया। आनेवाले शवोंका शुल्क लेनेमें लग गये। शरीरका रंग काला

हो गया। जटा बन गयी। हाथमें डण्डा। अब उन्हें पिछली बातें भी भूलती जारही थी।

रोती-बिलखती दासी अपने मृत पुत्रको गोदमें लेकर आयी। उसे साँप डस गया था। माता 'हा बेटा! हा बेटा' कह रही थी। दुबली, विवर्ण, धूलसे लथपथ। उसके शब्द सुनकर शव-वस्त्र लेनेके लिए राजा वहाँ गये। दोनोंने दोनोंको नहीं पहचाना। बालकको राजकुमारके समान देखकर उन्हें रोहिताश्वका स्मरण हो आया। 'वह भी कहीं होगा तो ऐसा ही होगा।' रानीके विलापसे उन्हें पता चल गया कि यह मेरी पत्नी है और मेरे पुत्रकी मृत्यु हो गयी है। दोनोंने दोनोंको पहचान लिया। दोनों दुःखार्त होकर संसारियोंके समान विलाप करने लगे। रानी कहने लगी—'अरे! दैव, तू बड़ा निष्ठुर है, तुझे धिक्कार है। इस देवताके समान राजाको तूने चाण्डालकी दशामें पहुँचा दिया। महाराज! मैं धरतीमें लोट रही हूँ। आप अपने हाथों उठाकर पलंगपर बैठनेको क्यों नहीं कहते। तुम्हारा छत्र, चँवर, व्यजन कहाँ है? पहले राजा लोग तुम्हारी सेवा करते थे। आज इस अशुद्ध श्मशानमें तुम दुखी हो रहे हो।' दोनों एक-दूसरेसे लिपट गये और रोने लगे।

कुछ स्वस्थ होनेपर रानीने कहा—'महाराज! यह बतलाइये कि जो कुछ दीख रहा है, वह स्वप्न है कि सत्य है? मेरा मन मुग्ध हो रहा है। क्या धर्म किसीका सहायक नहीं होता? क्या सृष्टिमें धर्म नामकी कोई वस्तु है ही नहीं। सत्य, सरलता, दयाका कोई महत्त्व नहीं है? तुम्हारे जैसा धर्मपरायण पुरुष इतना दुःख भोगे?'

हरिश्चन्द्रके श्वास गर्म-गर्म चलने लगे। वाणी गद्गद हो गयी। दोनोंने एक-दूसरेको आप-बीती सुनायी। उन्होंने कहा—'अब मैं अधिक दुःख नहीं सह सकता, परन्तु चाण्डालकी अनुमति लिये बिना यदि मैं अग्नि-प्रवेश करूँ तो दूसरे जन्ममें भी चाण्डालका ही दास होना पड़ेगा। मरनेके सिवाय और कोई उपाय भी तो नहीं है। चाहे कुछ भी हो, मैं तो अब मरूँगा। अपने कुकर्मका फल भोगूँगा। तुम ब्राह्मणके घर लौट जाओ। यदि हमारी धर्म-निष्ठा सच्ची है तो परलोकमें हम सब मिलेंगे। मैंने कभी हँसीमें, एकान्तमें यदि तुमसे कुछ अनुचित कहा हो, तो तुम क्षमा कर देना—यही मेरी प्रार्थना है। तुम अपनेको महारानी समझकर

गर्ववश उस बूढ़े ब्राह्मणकी अवज्ञा मत करना। उसे देवता समझकर सन्तुष्ट करना।'

रानीने कहा—'मैं भी तुम्हारे साथ ही मरूँगी।' चिता वनायी। पुत्रका शरीर उसपर स्थापित करके दोनों हाथ जोड़कर खड़े हो गये और परमात्माका चिन्तन करने लगे। 'वही परमात्मा जो सवका स्वामी है और सवके हृदयमें ही निवास करता है। उसके नाम हैं—नारायण, हरि, वासुदेव, सुरेश्वर। वही अनादिनिधन ब्रह्म है और वही पीताम्बर-धारी कृष्ण है।'

जब वे परमात्माके ध्यानमें मग्न हो गये, धर्मको अपने आगे करके इन्द्रादि देवता वहाँ प्रकट हो गये। धर्मने कहा—'साहस मत करो। मैं धर्म हूँ, तुम्हारे पास आया हूँ। तुम्हारी तितिक्षा, दम, सत्यनिष्ठा आदि सद्गुणोंसे मैं सन्तुष्ट हूँ।' इन्द्रने कहा—'मैं हूँ इन्द्र। तुम तीनोंने सनातन लोकोंपर विजय प्राप्त की है। तुम अपने कर्मके फलस्वरूप ऐसे लोकमें चलो जो किसीको प्राप्त नहीं हुआ है।' इन्द्रने अमृतवृष्टि की। पुष्पवर्षा हुई। देवताओंके वाजे वजे। स्वस्थ, प्रसन्न रोहिताश्व उठ वैठा। सर्वांग-सुन्दर, सुकुमार। दम्पतिने उसे हृदयसे लगाया। उनके शरीर और वस्त्राभूषण भी दिव्य हो गये। हृदय भर आया, स्वस्थ और परमानन्दित।

इन्द्रने कहा—'अब तुम तीनों उत्तम लोकमें चलो।'

हरिश्चन्द्रने कहा—'मैं अपने स्वामी चाण्डालकी अनुमतिके बिना और उसका ऋण चुकाये बिना स्वर्गलोकमें नहीं जाऊँगा।' धर्मने कहा—'तुम्हारे क्लेशकी कल्पना करके मैं ही मायासे चाण्डाल बन गया था। मेरी धृष्टता क्षमा करो।'

इन्द्रने कहा—'अब चलो।' हरिश्चन्द्रने निवेदन किया—'देवराज! आपको नमस्कार है। आप प्रसन्न हैं और मैं विनयसे बोल रहा हूँ। अयोध्याकी जनता मेरे विरहसे व्याकुल है। उन्हें वैसे ही दुखी छोड़कर मैं स्वर्गमें कैसे जाऊँगा? अपने आश्रित भक्तका त्याग महापाप है। उन्हें छोड़कर मैं कहीं सुखी नहीं हो सकता। आप स्वर्गमें जाइये। यदि वे भी मेरे साथ स्वर्गमें चलें, तब ही मैं चल सकता हूँ।'

इन्द्र—'सबके पुण्य-पाप पृथक्-पृथक् होते हैं। फिर उन्हें अपने साथ लेकर स्वर्गकी यात्रा कैसे हो सकेगी?' हरिश्चन्द्र—'देवराज! सुनिये, कोई भी राजा जब यज्ञ या परोपकार-सम्बन्धी कर्म करता है तो उनमें

कुटुम्बियोंका हाथ अवश्य होता है; क्योंकि राज्यपालनमें भी तो उनका प्रभाव काम करता है। मैंने अयोध्याकी जनताके प्रभावसे सब धर्म किया है। मैं स्वर्गके लोभसे उन्हें छोड़ नहीं सकता। मैं आपसे यह वर माँगता हूँ कि मेरा जो दान, यज्ञ, जप और सत्कर्म हो, सब उनके साथ मिल जाय। मैं अकेला बहुत दिनोंतक स्वर्ग भोगता, उनके साथ एक दिनमें भोग लूँ।

इन्द्रने कहा—'तथास्तु।'

इन्द्र, धर्म, विश्वामित्र सब आनन्दित हो गये और अयोध्या जाकर बोले—'तुम सब विमानपर चढ़ो, स्वर्ग चलो।' पृथिवीसे लेकर स्वर्ग तक विमान-ही-विमान जोड़ दिये गये। रोहिताश्वको अयोध्याके साम्राज्यपर अभिषिक्त किया गया। सभी अयोध्यावासी स्वर्ग गये। विमानसे विमान। हरिश्चन्द्र परमानन्दमें निमग्न।

हरिश्चन्द्रका यह सौभाग्य एवं समृद्धि देखकर शुक्राचार्यने यह गीत गाया था—

हरिश्चन्द्रके समान राजा न हुआ, न होगा। यह है धर्मनिष्ठा, सत्यनिष्ठा, तितिक्षा, त्याग।

धर्मकी जय हो।

(महाभारत)

ईश्वर जीवसे कहे कि "मैं तुम एक', तो जीव स्वीकार नहीं करेगा। गणेश और चूहा दोनों सोनेके। गणेशजी चूहेको ऐक्य समझायें तो चूहा हाथ जोड़कर कहेगा—"आप स्वामी और मैं आपका वाहन, आपका सेवक।" परन्तु सुनारकी दृष्टिमें दोनों एक हैं, दोनों सोनेके हैं, सोना हैं। तत्त्वतः एक। इसी प्रकार ईश्वर और जीव दोनों स्वर्ण हैं। सन्त सुनार हैं जो दोनोंकी एकता लखा देते हैं।

●●

व्यक्तित्वका विकास कैसे हो ?

विश्व-विश्रुत श्री को० अ० सुब्रह्मण्य अय्यर
(भूतपूर्व उपकुलपति लखनऊ विश्वविद्यालय एवं वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय)

★

—संस्कृत वाङ्मयमें 'संस्कृति' शब्दका अधिक प्रयोग नहीं मिलता। हमारा यह कहना नहीं है कि सर्वथा अप्रयुक्त है। हाँ, श्रुति और स्मृतियोंमें भी कहीं-कहीं उसका प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। परन्तु जहाँ है, वहाँ 'संस्कार' शब्दका पर्याय जान पड़ता है। हम इस लेखमें 'संस्कृति' शब्दका प्रयोग हिन्दी भाषाके समान 'कल्चर' (Culture)के अर्थमें करते हैं। देववाणीके प्राचीन ग्रन्थोंमें इस अर्थमें इसका प्रयोग नहीं है। 'कल्चर' शब्दका क्या अर्थ है ? संक्षेपमें, यह कहा जा सकता है कि किसी भी समाजमें उत्पन्न मनुष्योंको शिक्षा प्राप्त कर लेनेपर जो परम्परागत धर्म, आचार-विचार, विद्या प्राप्त होती है, वह सब 'कल्चर' के अन्तर्गत है।

'भारतीय संस्कृति' नामकी कोई अखण्ड वस्तु नहीं है। उसके विविध अवान्तर भेद पहले भी थे, अब भी हैं। हाँ, यह निर्विवाद है कि श्रुति, स्मृति-प्रतिपादित वैदिक संस्कृति ही भारतीय संस्कृतिका मुख्य रूप है। भारतमें ही विकसित होनेवाली पाली, अर्द्ध मागधी, महाराष्ट्री अथवा जैन-साहित्यमें संस्कृतिका जो रूप प्राप्त होता है, उसमें कुछ विलक्षणता अवश्य है। दक्षिण भारतमें संस्कृत भाषाके समान ही द्रविड अथवा तमिल भाषाका महान् आदर है। बड़ी श्रद्धासे उसका परिशीलन भी होता है। अवश्य ही उसमें भी संस्कृति-विषयक किञ्चित् विलक्षणता है। सिक्खोंके धर्मग्रन्थ 'श्रीगुरुग्रन्थ साहब' में भी संस्कृति - सम्बन्धी कुछ विशेषता स्वीकार करनी पड़ेगी। इसमें सन्देह नहीं कि, ये सभी संस्कृतियाँ भारत-भूमिकी ही सन्तान हैं और यहीं विकसित भी हुई हैं। परन्तु इस देशमें कुछ ऐसी भी संस्कृतियाँ हैं जो भारतसे बाहर जन्मग्रहण करके विदेशियोंके द्वारा प्राचीनकालमें ही यहाँ ला दी गयीं और क्रमशः विशिष्ट-रूपमें विकसित हुईं। जैसे दाक्षिणी भारतके केरल प्रदेशमें थोड़ेसे सीरि-

थाई इसाईयोंकी संस्कृति है। सुनते हैं कि वे ईसाकी प्रथम शताब्दीमें भारतवर्ष आ गये। अवश्य ही उनके आचार-विचार भी भारतीय हैं। उथली दृष्टिसे देखनेपर वे आर्य-धर्मावलम्बी ज्ञात होते हैं। अरबके इस्लाम-धर्मियोंके आक्रमण करनेपर ईरान देशसे भागकर भारतमें आये हुए पारसियोंकी साम्प्रतिक संस्कृति भी भारतीय संस्कृतिसे मिलती-जुलती ही है। इस प्रकार यद्यपि भारतमें बहुतसे प्राचीन-अर्वाचीन संस्कृतियाँ बह रहीं हैं। फिर भी इनमें वैदिक-संस्कृति ही मुख्य संस्कृति है, यह मानकर हम यह विचार करते हैं कि इसके अनुसार मानवको अपने व्यक्तित्वके विकासका कितना अधिकार है ?

यह प्रश्न तब और भी ज्वलंत रूपमें सम्मुख उपस्थित होता है जब हम राष्ट्र-संघटन-रूप प्रयोजनको रखकर विचार करते हैं। विचारकोंका इस सम्बन्धमें मतभेद है कि वह प्रयोजन क्या है ? किसी-किसीका ऐसा मत है कि राष्ट्रशक्तिका संवर्द्धन ही राष्ट्र-संघटनका मुख्य प्रयोजन है, जनताका अभ्युदय नहीं। राष्ट्र-शक्ति जब उत्कर्ष-सीमापर पहुँचती है, तभी राष्ट्रका प्रभाव बढ़ता है, अन्यथा नहीं। जनताका अभ्युदय इतना ही होना चाहिए जिससे राष्ट्र-शक्तिकी हानि न हो। जनताके हाथमें शक्ति आ जाने पर वह कभी राष्ट्रहितका विरोध करके भी अपना स्वार्थ सिद्ध करने लगती है। ऐसी स्थितिसे उसको रोकना चाहिए। अतः संघटनका प्रयोजन शक्ति-संवर्द्धन ही होना उचित है और सब गौण है।

कुछ लोगोंका कहना है कि, राष्ट्रकी जनताको यह अधिकार होना चाहिए कि वह अपनी दृष्टिसे अमान्य संविधानका उल्लंघन कर सके। न्याय-दृष्टिसे पारस्परिक विषमताको अस्वीकार कर दे और उसकी जन्मसिद्ध स्वतंत्रता अखण्ड बनी रहे। इस दृष्टिसे जनताके हाथोंमें न्यायोचित विधानका निर्माण और उसके पालनकी स्वतन्त्रता रहना राष्ट्र-संघटनका मुख्य प्रयोजन है।

अनेक चिन्तनशील विद्वानोंका कहना है कि केवल संविधानका निर्माण और उसका पालन ही राष्ट्र-संघटनका एकमात्र प्रयोजन नहीं हो सकता। जनताके अभ्युदय, उत्कर्ष और प्रगतिके लिए असंख्य कर्त्तव्योंका अनुष्ठान करना पड़ता है जैसे, बाहरी और भीतरी, आधिदैविक तथा आधिभौतिक भयोंसे राष्ट्रकी रक्षा करना, जनताके गमनागमनकी सुविधाके लिए राजमार्गोंकी रचना एवं विविध प्रकारके यात्रा-साधनोंकी परियोजना, सार्वजनिक आरोग्यकी सिद्धिके लिए चिकित्सालयोंका संस्थापन, ज्ञान-विज्ञानके प्राप्त्यर्थ विविध विद्यालय, प्रयोगशाला आदिका प्रतिष्ठापन। राष्ट्र-संघटनका मुख्य

प्रयोजन इन्हीं सब बातोंके लिए होता है। इस महान् और व्यापक प्रयोजन-की सिद्धिके लिए सभी स्त्री-पुरुषोंका अपने-अपने गुण-दोषके अनुसार स्वाभाविक विकास होना चाहिए। इसके लिए जनताको क्या-क्या अधिकार प्राप्त हों? और भारतीय संस्कृतिके अनुसार क्या वे अधिकार प्राप्त हैं? इन सब बातोंपर विचार करना आवश्यक है।

सभी देशोंमें कोई-न-कोई समाज-व्यवस्था विद्यमान है। जैसे भारतवर्ष-में वर्ण, जातिके द्वारा मनुष्यजाति बँटी हुई है, ऐसे ही दूसरे देशोंमें भिन्न-भिन्न वर्गोंके द्वारा। विविध वर्गों-में स्थित मनुष्यजाति अंशतः परस्पर भिन्न होती है और अंशतः परस्पर विषम भी होती है। इस प्रकार थोड़े-थोड़े अंशमें समता और विषमता होनेपर भी प्रत्येक व्यक्तिमें उसका अपना स्वरूप भी होता है। प्रतिव्यक्ति प्रत्यक्ष दीखनेवाले शरीरकी तरह ही मन, बुद्धि, चित्तवृत्ति, वासना और प्रतिभामें भी कुछ-न-कुछ विशेषता होती है। इन साधारण और असाधारण धर्मोंसे युक्त मनुष्यका स्वरूप ही उसका व्यक्तित्व है। उनका यह अपना-अपना व्यक्तित्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि सम्पूर्ण संस्कृति इसी व्यक्तित्वके विकासके अधीन है। मनुष्योंका केवल अपना जीवन सुखमय बनाना ही अपने व्यक्तित्वके विकासके अधीन हो, इतना ही नहीं, सारे समाजकी सब प्रकारकी उन्नति भी उसीके अधीन है। मनुष्यका व्यक्तित्व तभी विकसित हो सकता है जब समाज-में उसके गुण एवं योग्यताके अनुरूप स्थान प्राप्त हो। निश्चय ही किसीके व्यक्तित्वके अनुरूप पूर्वसिद्ध अथवा जन्मसिद्ध स्थान पहलेसे बना नहीं होता, इसलिए प्रारम्भमें निष्फलसे प्रतीत होनेवाले परन्तु क्रमशः सफलताकी ओर अग्रसर अपने प्रयत्न-से ही अपना स्थान प्राप्त किया जा सकता है। जबतक समाज और राष्ट्रमें सभी व्यक्तियोंको चाहे वे स्त्री हों या पुरुष, शक्ति होनेपर अपने व्यक्तित्वके अनुरूप स्थान-प्राप्तिका अधिकार नहीं मिल जाता और जबतक उन्हें प्रगतिशील जीवन-क्रमका निर्धारण करनेके लिए समाज-हितसे अविरुद्ध स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो जाती; तबतक उनके व्यक्तित्व-का पूर्ण विकास सम्भव नहीं है। कोई भी अपने योग्य स्थानपर दृढ़ होकर ही उन्नतिशील जीवनके लिए विशेष-मार्गका आश्रय ले सकता है। वह अपनी जीवन-मञ्जूषामें जो विशिष्ट-विशिष्ट, शिष्टानुमोदित, अक्लिष्ट जीवन-रत्नोंका सञ्चय करेगा, वही उसके व्यक्तित्वके विकासका हेतु बनेगा।

सभी जीवन-शैलियोंका मुख्य प्रयोजन पुरुषार्थ-सिद्धि ही है। जैसे भारतवर्षमें धर्म, अर्थ, काम एवं

मोक्ष—चार पुरुषार्थ मान्य हैं, वैसे ही दूसरे देशोंमें भी उनसे कुछ मिलते-जुलते। अन्तर केवल इतना हो है कि कहीं एकको प्रधानता है, कहीं दूसरे की। सभी मनुष्य चाहे उनके जीवन-यापनकी शैली कुछ भी हो, किसी-न-किसी वृत्तिसे शरीर-निर्वाह तो करते ही हैं। यह स्पष्टतया लोक-सिद्ध है कि यदि उनके जीवन-निर्वाहका मार्ग अपनी प्रज्ञा और जन्मसिद्ध-योग्यताके अनुसार हो तो उन्हें अधिक सफलता मिलती है। यह जन्मसिद्ध प्रज्ञा और योग्यता भारतवर्षमें वर्ण-धर्म और जाति-धर्मके अनुसार मानी जाती है, दूसरे देशोंमें अपने-अपने वर्गके अनुसार। चाहे कुछ भी हो, उसके अनुगुण रहनी बनानेसे ही जीवन फल-पर्यन्त पहुँचता है। कभी-कभी इस पद्धतिके विपरीत भी देखा जाता है। सभी ब्राह्मण विद्याव्यसनी नहीं होते, कोई-कोई विद्या-विमुख; व्यापार-रुचि एवं व्यापार-कुशल होते हैं। वे अगतिक गतिसे अथवा विवशतासे व्यापारमें प्रवेश नहीं करते, किन्तु अपनी जन्मगत योग्यतासे अभिव्यक्त अभिरुचिसे उनके व्यक्तित्वका विकास व्यापारमें प्रवेश करनेसे ही हो सकता है, विद्याक्षेत्रमें पदार्पणसे नहीं। एक ही पिताके औरस-पुत्र रुचि और गुण-दोष में परस्पर पृथक्-पृथक् देखे जाते हैं। एक विद्या-व्यसनी, दूसरा कुशल किसान, तीसरा निपुण गायक—यह दशा केवल भारतमें नहीं है, विदेशोंमें भी ऐसी ही है। यही कारण है कि आधुनिक मनोविज्ञानके विद्वान् जन्म-सिद्ध योग्यता और प्रज्ञाका निश्चय करनेके लिए अनेक उपाय और प्रक्रिया-की उद्भावना करते हैं। उनका आश्रय लेकर जो लोग स्वयं अपनी जीवन-शैलीका निर्धारण नहीं कर सकते, वे शिक्षा प्राप्त करते हैं। उसके अनुसरणसे उन्हें अपने जीवनकी शैली एवं सफलताका अनुभव होता है। अँग्रेजोंमें इस प्रक्रियाको Aptitude tests कहते हैं।

मनुष्यके अपने व्यक्तित्वका विकास अपनी वृत्तिके लिए किये जानेवाले प्रबल प्रयत्नोंसे ही होता है; क्योंकि उसका अधिकांश समय इसी कार्यमें लगता है; परन्तु क्या मनुष्य केवल अपनी जीविका-वृत्तिके लिए ही प्रयत्न करता है? नहीं-नहीं; वह एक सामाजिक प्राणी है। वह अपने समाज-के साथ-साथ विश्व-मानवके साथ भी मैत्री, शत्रुता आदि अनेकविध सम्बन्ध स्थापित करता है। वह शास्त्रीय ज्ञान, कला-कौशल और अनुभवकी वृद्धिके लिए प्रतिभाशाली विद्वानोंके साथ भी मेल-जोल करता है, केवल मनुष्योंके साथ ही नहीं, गाय, घोड़ा आदि प्राणियोंके साथ भी उसको सम्पर्क और व्यवहार करना पड़ता है। अपने अभ्युदयके लिए, विश्व कल्याणके लिए, देवता-आराधनके लिए

उसे भिन्न-भिन्न प्रकारके कर्म करने पड़ते हैं। अवश्य ही यदि अपने स्वभावका अध्ययन करके अपनी प्रज्ञाके अनुसार वे किये जायँ तो उनसे व्यक्तित्वका विकास होता है। यह सिद्धान्त निर्विवाद-रूपसे सार्वभौम है कि दुखी, पीड़ित एवं दलित प्राणियोंके दुःख-निवारणका महान् कर्म व्यक्तित्वके विकासका एक श्रेष्ठतम उपाय है। अतएव शास्त्रोंमें भी इष्ट और पूर्त—दोनोंको ही स्वर्ग-साधन माना है। केवल श्रमसे ही व्यक्ति-विकास होता है—यह मान्यता भ्रान्ति है। जीवनके विकास-क्रममें विश्रामका भी उतना स्थान है, जितना श्रमका। विश्रामसे श्रम दूर करके पुरुष उत्साहपूर्वक कर्म करता है। सभी संस्कृतियोंमें विश्रामके लिए भी विहारकी विविध कलाओंका आविष्कार किया गया है। अपनी प्रकृतिके अनुसार उसके द्वारा भी अपने व्यक्तित्वका विकास किया जाता है।

मनुष्यका व्यक्तित्व साधारण और असाधारण—दोनों ही प्रकारकी वस्तु-शक्तियोंका समन्वय है। जब समाजके सभी स्त्री-पुरुषोंको राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक स्वातन्त्र्यकी प्राप्ति होकर विकासोचित अधिकार प्राप्त हो जाते हैं तब प्रत्येक व्यक्तिकी जन्म-सिद्ध प्रज्ञा और योग्यता सर्वतोमुख विकास प्राप्त करती है। अब हम यह विचार करते हैं कि स्वातन्त्र्य और अधिकार कैसे होने चाहिए ?

चाहे भारत हो या विदेश, आज तक कहीं भी सामाजिक व्यक्तिको पूर्ण स्वातन्त्र्य कभी प्राप्त नहीं हुआ है। ऐसा होना शक्य भी नहीं है। सभी समाजमें व्यक्तिपर कुछ-न-कुछ नियन्त्रण होता है और होना चाहिए। सर्वत्र ऐसा ही है कि व्यक्तिके अधिकारके साथ-साथ कर्तव्य भी जुड़े हुए हैं। इतना ही नहीं, वही कर्म एक दृष्टिसे कर्तव्य है और दूसरी दृष्टिसे अधिकार। यज्ञ करना और कराना ब्राह्मणोंका कर्तव्य है। यज्ञ करने और करानेमें ब्राह्मणोंका अधिकार है। अधिकार रहित कर्तव्य भार है। उससे मनुष्य दास हो जाता है। कर्तव्य-बन्धनसे रहित अधिकारी उच्छृङ्खल और समाजद्रोही हो जाता है। अतः स्वातन्त्र्य और अधिकार अपेक्षाकृत ही होते हैं, निर्मर्याद नहीं। देश, काल, परिस्थितिके अनुसार कहीं कर्तव्यकी अधिकता होती है, कहीं अधिकारकी।

व्यक्तित्वके विकासके लिए कौन-कौनसे अधिकार आवश्यक हैं, इसपर अब भी कोई सर्वसम्मत मत स्थापित नहीं हुआ है। रूस और अमेरिकामें प्रवर्तमान परस्पर संघर्ष भी इस प्रश्नसे अस्पृष्ट नहीं है। किसी-किसीके मतानुसार सभी राष्ट्रीय स्त्री-पुरुषोंको अपने-अपने व्यक्तित्वके विकासके लिए इन अधिकारोंकी अपेक्षा होती है। जैसे, (१) निसर्ग-सिद्ध प्रतिभाके

अनुसार शिक्षाके प्राप्त हो जानेपर अपनी जीविका-वृत्तिके निश्चयका अधिकार। (२) रोग, आकस्मिक दुर्घटना आदिके द्वारा जीविकाका लोप हो जानेपर राष्ट्रीयव्यवस्था द्वारा सबको चिकित्सा प्राप्त करनेका अधिकार। (३) तत्त्वानुसन्धानमें स्वतन्त्रता और आत्मरुचिके अनुसार प्रवृत्ति। (४) समाज-हितका उद्देश्य रखकर बेरोक-टोक अपना मत प्रकट करना। (५) निष्पक्ष न्याय। (६) शासकोंके अत्याचार और अनाचारको रोकना। (७) राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री आदिका स्वतन्त्र चुनाव करना। (८) अपनी अभीष्ट पद्धतिके अनुसार ईश्वरकी उपासना। (९) शासनके न्याय-मार्गसे च्युत हो जानेपर बिना दण्डित हुए विरोध करनेका अधिकार।

अपने-अपने व्यक्तित्वके विकासके लिए इन अधिकारोंकी अनिवार्य अपेक्षा होती है। कभी-कभी इनके समान दूसरे विषयोंमें भी अधिकार अपेक्षित होते हैं।

भारतवर्षमें संविधान-सभाके द्वारा विधानोंकी जो मर्यादा स्थापित की गयी है, उससे सभीको बहुतसे अधिकार मिल जाते हैं। इस नवीन विधानके अनुसार वर्ण-जातिके अनुसार अधिकार-भेद नहीं माना गया है। जनता इस विधानको बहुत प्रिय भी मानती है, परन्तु यह तो कोई नहीं कह सकता कि यह विधान शुद्ध भारतीय संस्कृतिके अनुसार बना है। जिन्होंने ब्रिटिश शासकोंके द्वारा स्थापित शिक्षा-पद्धतिसे शिक्षण प्राप्त किया है, उन्हींसे विचार-पद्धति प्राप्त की है, उन्हींकी राजनीतिक, सामाजिक संस्थाओंके साथ सम्पर्क बनाया है, उन्हींके साथ संघर्ष करके, उन्हींमें रहकर, उन्हींकी जीवन-पद्धतिका निरीक्षण करके विपुल अनुभव प्राप्त किया है; उन पाश्चात्य-प्रणालीसे शिक्षित-दीक्षित एवं तत्प्रभावित विचार-विमर्शसे सम्पन्न भारतीय विद्वानोंके द्वारा बनाया हुआ विधान शुद्ध भारतीय संस्कृतिके अनुसार है—यह सिद्धान्त भारतीय संस्कृतिसे संस्कृत प्रज्ञावाले विद्वान् कैसे स्वीकार कर सकते हैं?

फिर शुद्ध भारतीय संस्कृतिमें क्या स्थिति है? उसमें भी अपने-अपने व्यक्तित्वके विकासके लिए लोगोंके अधिकार स्वीकृत हैं। केवल इतना ही अन्तर है कि वह सब स्त्री-पुरुषोंके लिए नहीं हैं, वर्ण-जाति आदिके अनुसार विविध प्रकारके हैं। अपने-अपने अधिकारके अनुसार प्रयत्न करनेपर व्यक्तित्वका महान् विकास देखा गया है। इस पर एक सन्देह है, वह यह कि यदि मनुष्यकी जन्मसिद्ध शुभवासना जाति, धर्म-विरोधिनी हो तो उसे क्या करना चाहिए? किसी-किसीका कहना है कि 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' अथवा 'श्रेयान्

स्वधर्मो विगुणः'—इन गीता वचनोंके अनुसार यदि जन्मसिद्ध योग्यता जाति, धर्म-विरोधिनी हो तो उसका परित्याग कर देना चाहिए। जाति,धर्म ही अनुसरणीय है, जन्मसिद्ध योग्यता नहीं। यहाँ 'स्वधर्म' शब्दका अर्थ जाति-धर्म ग्रहण किया है। इसमें संदेह नहीं कि गीतामें 'स्वधर्म' शब्द का अर्थ जाति-धर्म भी है। परन्तु क्या जन्मसिद्ध योग्यताका सर्वथा त्याग कर देना ही भगवन्मत है? इसीमें तात्पर्यका स्वारस्य है? गीतामें कहीं-कहीं 'स्वधर्म' शब्दके अर्थमें ही सहज कर्म, स्वभाव-नियत कर्म अथवा स्वभावज कर्म आदि शब्दोंका प्रयोग भी किया गया है। इन स्वभावज कर्मोंकी व्याख्या भी की गयी है। इन स्वभावज कर्मोंमें जन्मसिद्ध योग्यता और प्रतिभाकी वृद्धिके अनुकूल कर्मोंका अन्तर्भाव होता है—इसमें क्या संदेह है? जहाँ जाति-धर्म और स्वभाव-धर्ममें विरोध नहीं है, वहाँ तो कोई शंका है ही नहीं। जहाँ दोनोंका विरोध है, वहाँ स्वभावज धर्मका ही अनुसरण करना चाहिए—ऐसा गीताका मत है। क्या इस मतको गीताके तात्पर्यके सर्वथा विरुद्ध कहना शक्य है?

अच्छा, यदि ऐसा है तो भगवान्ने युद्धके लिए अनिच्छुक अर्जुनको उस कर्ममें क्यों लगाया? इसका उत्तर यह है कि वस्तुतः अर्जुनके जीवनमें वर्ण-धर्म और स्वभावज धर्मका कोई विरोध नहीं था। युद्ध अर्जुनका वर्ण-धर्म तो था ही, इस विषयमें उनकी जन्मसिद्ध असाधारण योग्यता भी थी, अस्त्र-शस्त्रोंके प्रयोगमें अनुपम कौशल, भिन्न-भिन्न संग्रामोंमें विजय-प्राप्ति, इसके प्रमाण हैं। महायुद्धके प्रारम्भमें अर्जुन क्लीवता और हृदयकी दुर्बलतासे पीड़ित हो गया, इससे तो यह सिद्ध होता है कि केवल अधिकार-प्राप्तिसे ही व्यक्तित्वका विकास नहीं होता। अधिकारी अर्जुनके विकासमें भी न्यूनता है। इसका मुख्य कारण है—आन्तरिक अशान्ति। इस अशान्तिके भी विविध कारण होते हैं। कोई-कोई मनुष्य महान् अन्तर्द्वन्द्वसे पीड़ित होते हैं। परस्पर-विरुद्ध चित्तवृत्तियाँ और वासनाएँ व्यथित करती रहती हैं, कभी एक जीत जाती है, कभी दूसरी। इस आभ्यन्तर संघर्षके कारण शान्ति नष्ट हो जाती है और परस्पर-विरुद्ध चित्त - वृत्तियोंका समन्वय अथवा सामंजस्य नहीं हो पाता। इन वृत्तियोंका समन्वित अथवा समंजस न होना व्यक्तित्वके विकासमें प्रबल प्रतिबन्ध है। कभी-कभी वृत्तियोंमें परस्पर विरोध न होनेपर भी उनका सर्व-सम्मत सदाचारसे विरोध होता है। इससे भी आभ्यन्तर शान्तिका नाश हो जाता है। कभी-कभी मनुष्यकी इच्छा जन्मसिद्ध योग्यताके साथ मेल नहीं खाती। किसी वस्तुको पाना चाहते हैं परन्तु उसे पानेकी शक्ति नहीं

होता। यह भी अशान्तिका एक बड़ा कारण है। इस प्रकार विविध अशान्तियोंसे अधिकारी पुरुष भी अपने व्यक्तित्वके विकाससे निराश-उदास हो जाते हैं। असाधारण पुरुषोंके जीवनमें भी यह देखनेमें आता है कि वे कभी-कभी मूल वस्तुको ठीक-ठीक न समझनेके कारण दोषाक्रान्त हो जाते हैं और कर्तव्यानुष्ठानमें उनकी प्रवृत्ति नहीं होती। व्यक्तित्वके विकासमें यह भी एक अड़चन है। यही परिस्थिति अर्जुनकी है उसके हृदयकी दुर्बलता और क्लीबता व्यक्तित्वके विकासमें प्रतिबन्धक है। उसी प्रतिबन्धकी निवृत्तिके लिए भगवान्‌ने गीतामें ऐसे उपदेश किये हैं जिनसे मूल दर्शनगत दोष दूर हो जायँ।

स्वामी श्री मधुसूदन सरस्वतीने गीताका सार-संक्षेप इस प्रकार किया है—"सबसे पहले निष्काम कर्म-निष्ठा। तदनन्तर अन्तःकरण-शुद्धि, इसके बाद शमदमादि साधन-पुरःसर सर्वकर्म-संन्यास। तदनन्तर वेदान्तवाक्य-विचार सहित भगवद्भक्ति-निष्ठा, फिर तत्त्वज्ञान निष्ठा" इत्यादि।

यह प्रक्रिया भारतीय संस्कृतिका प्राण है। यह न केवल मुमुक्षुओंके लिए प्रत्युत संसारियोंके लिए भी उपयुक्त है। जो लोग अपने व्यक्तित्वके विकासके लिए प्रयास करते हैं और उसमें विविध बाह्य—आभ्यन्तर विघ्न-बाधाका अनुभव करते हैं, वे यदि अंशतः भी इसके अनुसार चलें तो उनको उद्देश्य—प्राप्ति सुगम हो जायगी। फलाभिसन्धिसे रहित होकर भगवदर्पण बुद्धिसे विहित कर्मका अनुष्ठान करनेपर जो अन्तःकरण—शुद्धि होती है वह मुमुक्षुको मोक्ष देती है। अधिकांश मानव मुमुक्षु ही हैं। संसारके कीचड़में फँसकर अनेक प्रकारके कष्ट सह रहे हैं और दिङ्मूढ तथा विषादग्रस्त हो रहे हैं। यह अन्तःकरण-शुद्धि सर्वविध आभ्यन्तर द्वन्द्वका विध्वंस कर देती है और परस्पर विरोधी चित्तवृत्तियोंका समन्वित, समंजस रूप बना देती है। इसीसे अन्तर्देशके निभृत प्रदेशमें संस्काररूपसे स्थित सभी शक्तियाँ जाग्रत् हो जाती हैं; कर्तव्यपालनके लिए उत्साह-प्रेरणा प्राप्त होती है। सिद्धि-असिद्धिमें समता आती है। हर्ष-विषादके द्वन्द्वसे मुक्ति मिलती है। निष्कर्ष यह कि व्यक्तित्वका सर्वतोमुखी विकास हो जाता है। व्यक्तित्वको विकसित करनेके लिए अन्तःकरण—शुद्धिके समान और कोई उपाय नहीं है।

भगवान्‌ने गीतामें प्रधानतः मुमुक्षुओंके लिए इस प्रक्रियाका उपदेश किया है। मोक्ष-प्राप्तिके लिए इसका अनुसरण किया जाता है। इसका पूर्ण रूपसे अनुसरण करनेपर मनुष्य क्रमशः मोक्षकी ओर गतिशील होता है। वह क्रमिक उन्नति भी व्यक्तित्वके विकासकी ही एक प्रक्रिया है। भले

मैं, मैं, मैं

मिट्टीने अभिमानके साथ कहा—मैं भी कुछ हूँ। मनुष्य, पशु, पक्षी, घट, पट, मठ, फल, फूल, पल्लव—सब मैं ही तो हूँ।

कालने रोक दिया—मैं तुम्हारा पिता, तुम मेरी पुत्री। मेरे जीवनके एक छोटे-से अंशमें ही तो तुम्हारा सब कुछ होता है।

दिशाने कहा—ठीक है, मैं तुम्हारी माँ हूँ। तुम प्रत्येक दशामें मेरे पेटमें तो रहती हो।

मेरी लम्बाई और चौड़ाईके अंशमें तुम्हारा जन्म-मरण—दोनों होता है।

मिट्टी सोचने लगी—'मैं क्या हूँ।' कुछ पता न लगा। हारकर चुप बैठ गयी। चुप होते ही उसे आहट मिली कि मेरे पीछे खड़ा होकर मुझे कोई देख रहा है। वह चुप हो गयी और चुप चेतनसे अपनेको एक कर दिया। अब न कालकी उम्र थी, न दिशाका पेट।

मिट्टीने कहा—माँ-बाप झूठे हैं। मैं न होऊँ तो पिताकी उम्र कहाँ और माताका पेट कहाँ? असलमें मैं उसीकी हूँ जिसमें मैं समा गयी थी। वही मेरा सर्वस्व है—ये 'माँ', 'बाप', 'मैं' कुछ नहीं।

इतनेमें वेदान्तने गम्भीर ध्वनिसे निर्घोष किया—अरी, तू उसकी नहीं, वही है। वह तेरा सर्वस्व नहीं, तू ही है। तेरा 'मैं', कालका 'मैं', दिशाका 'मैं' सब वही। मैं, मैं, मैं = अद्वितीय चेतन।

(म० श्री)

मोक्षमें पूर्णतया व्यक्तित्वका लय हो जाता हो, परन्तु वह भी व्यक्तित्वके विकासकी एक पराकाष्ठा ही है और सच पूछिये तो यही भारतीय संस्कृतिकी एक अनन्य-साधारण वैशिष्ठ्य भी है।

●●●

भक्त्या पुमाञ्जातविराग ऐन्द्रियाद्
दृष्टश्रुतान्मद्रचनानुचिन्तया ।
चित्तस्य यत्तो ग्रहणे योगयुक्तो
यतिष्यते ऋजुभिर्योगमार्गैः ॥
(३।२५।२६)

ईश्वरका चिन्तन कैसे करें ?

कपिलोपदेशके अन्तर्गत एक श्लोकके एक अंशकी व्याख्या

(स्वामी श्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी)

भक्ति होनेपर पुरुषको देखे-सुने सव ऐन्द्रियक भोगोंमें वैराग्य हो जाता है। तब वह चित्तको एकाग्र करनेके प्रयत्नमें लगता है और बराबर मेरी रचनाके चिन्तन-जैसे सरल योगमार्गोंसे प्रयत्न करता है।

'मद्रचनानुचिन्तया'—भगवान्‌की रचना—उनका शिल्पनैपुण्य देखो। सूर्य ऐसा दीपक है कि यदि वह केवल दो फुट पृथिवीके और समीप होता तो पृथिवी जल जाती। यदि चन्द्रमा दो फुट और पास होता तो समुद्रका ज्वार पृथिवीको डुबा देता। कितना अद्भुत गणित है सृष्टिकर्ताका।

आपके नेत्रोंके सम्मुख सृष्टि है। इसकी अद्‌भुत रचनापर आपका ध्यान जाता है? ऐसी कोई संसारकी वस्तु है जो आपके प्रियकी बनायी न हो?

एक बार एक सज्जन अपनी पुत्रीके साथ गुरुनानकके समीप गये। गुरु साहब एकटक उस लड़कीको देखने लगे तो पितासे रहा नहीं गया। वह बोला—'आप इसमें क्या देखते हैं?'

गुरु—'कर्तारकी कारीगरी देखता हूँ।'

यह भक्तकी दृष्टि है कि लडकी नहीं देखते, कर्तारकी कारीगरी देखते हैं।

'मद्रचनानुचिन्तया'—मम रचनाया अनुचिन्ता यस्यां तादृश्या भक्त्या, मेरी रचनाका अनुचिन्तन जिसमें है, उस भक्तदृष्टिसे सृष्टिको देखो।

एक महात्मा लखनऊमें रहते थे। उनके समीप एक सज्जन अपने बगीचेके फूलोंका गुलदस्ता लेकर आये। वे महात्मासे यह पूछने आये थे कि—'घरद्वार सम्हालें या छोड़ दें।' महात्मा गुलदस्ता देखनेमें तल्लीन हो गये। उन सज्जनने थोड़ी देर प्रतीक्षा की। महात्माको अपनी ओर ध्यान न देते देखकर बोले—'गुलदस्ता आप देख रहे हैं, यह बड़ी कृपा, किन्तु मुझे तो आप भूल ही गये।'

महात्मा—'फेंक दूँ इसे ?'

वे घबड़ाकर बोले—'नहीं-नहीं। बड़े प्रेमसे मैंने इसे बनाया है।'

महात्मा—'तब इसीको देखूँ ?'

वे—'नहीं, मेरी ओर भी देखिये।'

महात्मा—'तुम्हारे प्रश्नका यही उत्तर है। यह संसार ईश्वरने बड़े प्रेमसे बनाया है। अतः इसकी ओर भी देखो और इसके बनानेवालेकी ओर भी देखो।

पृथिवी देखकर आपको स्मरण आता है कि इसे वराह भगवान्‌ने स्थापित किया है ? इसी धरतीपर श्री रघुनाथ 'धूसर धूरि भरे तन आये' और यही पृथिवी है जिसपर गोपाल घुटनों चलता था। समुद्र देखकर आपको शेषशायीका स्मरण आता है ? यह भगवान्‌की ससुराल है। भगवान् इसमें शेषशय्यापर सोते हैं। सूर्य-मण्डलमें भगवान् हैं। चन्द्रमण्डलमें भगवान् हैं। वायु विराट् पुरुषका श्वास है। शरीरमें वायु लगनेपर कभी स्मरण आता है कि हमारे इतने समीप भगवान्‌का मुख है ? ये बातें मनमें आने लगें, तब समझो कि भक्तिका प्रादुर्भाव हुआ। सृष्टिके कर्ता कारीगरका हाथ सर्वत्र दीखना चाहिए। उसे देखने, उससे मिलनेकी उत्कण्ठा होनी चाहिए।

> हे देव हे दयित हे भुवनैकबन्धो।
> हे कृष्ण हे चपल हे करुणैकसिन्धो।
> हे नाथ हे रमण हे नयनाभिराम।
> हा हा कदानुभवितासि पदं दृशोर्मे॥

वह रसमयी, मधुमयी, लास्यमयी श्याममूर्ति हमारे नेत्रोंके सम्मुख कब आयेगी ? जीवनमें वह क्षण कब आयेगा ? हे कृष्ण ! हे चपल ! हे करुणा-सिन्धु ! हे स्वामी ! हे प्रियतम ! हे त्रिभुवनबन्धु ! हे परमसुन्दर ! कब तुम मेरे नेत्रोंके सम्मुख आओगे !

यह उत्कण्ठा-प्यास जगे प्राणोंमें। आप विश्वास कीजिये कि ईश्वर है। सच्चा है और ईश्वरका दर्शन इन्हीं नेत्रोंसे होता है। जितना सत्य यह जगत् है, उससे अधिक सत्य परमात्मा है।

डाक्टर कहते हैं—'हम हृदय बदल सकते हैं।' जब आप हृदय बदलते हो तो क्या उस व्यक्तिकी स्मृतियाँ और भावनाएँ बदल जाती हैं? ऐसा तो नहीं है। यह तो एक मांस-खण्ड है, जिसे आप बदलते हो। हृदय हम कहते हैं भावनाओंके आधारको। वह बदला नहीं जाता।

'मद्वचनानुचिन्तया'—सृष्टिके रूपमें यह परमात्माका कौशल सामने है। एक-एक वस्तुमें उनकी विलक्षण निपुणता है। आप नलके जलका टैक्स देते हो, पंखेके चलानेका टैक्स देते हो। किन्तु वर्षाके जलका टैक्स लगता है? श्वास लेनेकी वायुपर कोई कर है?

'यावज्जीवं त्रयो वन्द्या वेदान्तो गुरुरीश्वरः।' वेदान्तीको भी यावज्जीवन वेदान्त, गुरु तथा ईश्वरकी सेवा करनी चाहिए; क्योंकि ईश्वरने अन्तःकरण शुद्ध किया, गुरुने हमारे जीवनका निर्माण किया, वेदान्त शास्त्रसे ज्ञान प्राप्त हुआ। इनके प्रति कृतघ्न हो जाओगे तो ज्ञान प्रतिबद्ध हो जायगा। अतः इनके प्रति कृतज्ञ बने रहना चाहिए।

अन्न, वस्त्र, गौ आदि वस्तुओंके देनेकी क्रिया जब धर्म और वस्तुके संयोगसे सम्पन्न होती है, तब उससे मन पवित्र होता है। जब किसीको कुछ देकर बदलेमें कुछ लाभ इसी लोकमें चाहते हैं, तब धर्म विकृत हो जाता है। जैसे श्राद्धमें अपने रसोइयेको खिलाकर उसे रुपया, धोती दें और उससे सेवा चाहें। वस्तु, क्रिया, विधि, सद्भाव तथा संकल्पके सम्बन्धसे धर्म होता है। मीठे शब्दका दान भी धर्म है।

परमात्मा तथा जगत्के तत्त्वका विधिवत् विचार करनेसे ज्ञान होता है। मनमाने ढंगसे विचार करनेसे ज्ञान नहीं होता। योगमें वस्तुकी आवश्यकता नहीं, क्रियाकी आवश्यकता नहीं, संकल्पकी आवश्यकता नहीं और विचारकी भी आवश्यकता नहीं। बस मनको रोक दो। इन सबसे भक्ति विलक्षण है। इसमें न ब्रह्मविचार है, न मनोनिरोध, न वस्तु देना और न क्रिया करना। भक्ति प्रेमात्मिका वृत्ति है। भक्ति यह है कि एक-एक पदार्थमें, क्रियामें भगवान्का स्मरण हो।

एक महात्माको किसीने केला दिया। उन्होंने केलेको छीला, बस वे तो केला खाना भूल ही गये। उनके नेत्रोंसे अश्रु-प्रवाह चलने लगा। वे केलेको

ही देखते रह गये। देनेवालेसे पूछा—'केलेके भीतर इतना उत्तम हलवा किसने रखा? किसने छिलकेसे उसकी ऐसी रक्षा की कि मक्खी, मच्छरका मुँह वहाँ नहीं पहुँच सका? वह मुझसे बहुत प्रेम करता होगा?'

'आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन'—श्रुति

उसके सृष्टिरूप बगीचेको लोग देखते हैं; किन्तु उसे कोई नहीं देखता। 'रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्' (ब्रह्मसूत्र) कभी भी अज्ञातरूपसे अपने आप इतनी उपयुक्त, समझदारीसे बनी रचना नहीं हो सकती। लेकिन अनुमानसे जगत्कर्ता नहीं जाना जाता। अनजान रूपसे प्रकृति बदलती रहती है और स्वयं सब बन जाता है—ऐसा नहीं हो सकता।

खाया भोजन कैसे पचता है? उससे बना रस शरीर कैसे चूस लेता है? श्वास कैसे चलती है? यह शरीर ही अद्भुत यन्त्र है। हमारे खाये अन्नसे केवल रक्त, मांस या शक्ति ही नहीं बनती, उससे मन भी बनता है, बुद्धि बनती है। अन्नका बुद्धि बन जाना क्या अपने-आप सम्भव है? विज्ञान अभी तक रक्त भी नहीं बना सका है। वस्तुतः विज्ञान केवल आकृति बनाता है, धातु नहीं। आकाश, वायु आदि विज्ञान नहीं बनाता। जो यह सब बनाता है, उस रचनाकारका चिन्तन करो।

हम प्रतिदिन सो जाते हैं तो जगाता कौन है? नींद कैसे आती है? कौन निद्रा भंजता है? संसारमें किसी वस्तुको देखा—मिट्टी, पानी, अग्नि, वायु, पशु-पक्षी, वृक्ष, लता—सबमें अद्भुत कौशल है। आपके पाँच पुत्र हों और उनके पाँच-पाँच सन्तान हों। यह क्रम सौ पीढ़ी चले तो आपका ही नाम ब्रह्मा हो जायगा। सृष्टिमें यह जो अरबों प्राणी हैं, सृष्टिमें वृद्धिका यह बीज किसने डाला? आम कितनी पीढ़ीसे चला आ रहा है। एक फूल सड़ता है तो कितने कीड़े बन जाते हैं। इस प्रकार सृष्टिमें सर्वत्र भगवान्‌का हाथ देखो।

ऐसा करना सरल न लगे तो दूसरे क्रमसे चिन्तनका स्वभाव बनाओ। मान लो कि आप हाथमें एक केला लेते हो। आपको केलेको देखकर यह कथा स्मरण आनी चाहिए—श्रीकृष्णचन्द्र जब पाण्डवोंके सन्धिदूत बनकर हस्तिनापुर गये तो दुर्योधनने उनके स्वागतके लिए महल सजाया था। बड़ी तैयारी की थी। श्रीकृष्णने दो टूक कह दिया—

सम्प्रीति भोज्यान्यन्नान्यापद्भोज्यानि वा पुनः।
न च त्वं प्रीयसे राजन् न चैवापद्गता वयम्॥

'दुर्योधन जी ! प्रेमसे कोई खिलाये तो खा लें या हमें भोजन न मिलता हो—हम भूखे हों तो जो दे, उसका खा लें। किन्तु तुम तो प्रेमसे खिलाते नहीं; घूस दे रहे हो और हम भूखे नहीं हैं, अतः तुम्हारे घर खाने नहीं जायँगे।'

दुर्योधनके आमन्त्रण देनेपर भी नहीं गये उसके घर और विदुरजीके घर स्वयं पहुँच गये। विदुर-पत्नीको घरमें और कुछ नहीं मिला तो केला खिलाने लगीं। इतना प्रेमका आवेश कि केलेका गूदा फेंकती जायें और छिलका देती जायें। श्रीकृष्ण वह केलेका छिलका खाते थे। आपके हाथमें जो केला है यह भी तो उसी केलेके वंशमें है—यह स्मरण करें।

संस्कृतमें एक ग्रन्थ है—'सुदलोकलाघवम्', उसके ग्रन्थकर्तासे किसीने पूछा—'आम्र इतना मीठा क्यों है?' ग्रन्थकर्ता बोले—'**सोऽयं रामपद-प्रसंग-महिमा लोके समुज्जृम्भते।**'—यह 'आम्र' नाममें जो 'राम' नामके अक्षर 'आ म र' 'र आ म' हैं, इनके आनेकी महिमा है।'

मेघ देखकर आपको 'मेघश्याम' और कमल देखकर 'कमललोचन' का स्मरण होना चाहिए। एक बौद्ध ग्रन्थमें एक प्रश्न उठाया है—'पशुमें भी मन होता है और मनुष्यमें भी मन होता है। जब 'मनायतन' दोनोंमें हैं, तब दोनोंके शरीरमें एवं मनमें अन्तर क्यों है?' मनमें तीन बातें होती हैं द्वेष, लोभ और मोह। जो इनको कम नहीं करता, उसका मन दुर्बल एवं चञ्चल हो जाता है। उसका मन निपुण भी नहीं होता। लोभी, मोही, द्वेषी लोग बेईमान, पक्षपाती और निष्ठुर होते हैं। उनमें स्वयंको रोकनेकी शक्ति नहीं होती। वह एक स्थानपर टिक नहीं सकता। उसमें सूक्ष्म विचारोंका उदय नहीं हो सकता। ऐसा मनुष्य अगले जन्ममें पशु होगा; क्योंकि पशुके लिए मनको रोकना आवश्यक नहीं। जहाँ आहार दीखा, टूट पड़े। क्रोध आया, लड़ पड़े। चित्तमें लोभ, द्वेष, मोहकी प्रधानतासे ही तो वर्तमान जीवनमें भी मनुष्य पशु-तुल्य ही है। जो लोभ, मोह, द्वेषको रोकते हैं, उनका मन सबल बनता है। वह स्थिर तथा परमार्थ-विचारमें पटु हो जाता है। जिसके मनमें लोभ, मोह, द्वेष अधिक हैं, वह ईश्वरका भक्त नहीं है। मनुष्य जब अलोभ, अमोह, अद्वेषका अभ्यास करता है, तब उसके मनमें आत्मबल, एकाग्रता तथा वस्तुको समझनेका सामर्थ्य आता है।

हम मानवतासे पशुताकी ओर जा रहे हैं। मन पशु बन चुका तो बाहरी देह मनुष्य बना कबतक घूमेगा? आप वस्तुतः मनुष्य बनना चाहते हैं तो द्वेष,

मोह, लोभ छोड़कर मनको ईश्वरके चिन्तनमें लगाइये। इससे मन एकाग्र, बलवान् तथा विचार-समर्थ होगा।

'मद्रचनानुचिन्तया'—ऐसी कोई क्रिया नहीं होती, जिसमें भगवान्की दया, करुणा, वात्सल्य न हो। मनुष्यकी बुद्धि दूसरी ओर लगी रहती है, अतः इस लीलामें भगवान्की कृपा समझमें नहीं आती। कभी-कभी किसीसे वियोग होनेमें लाभ होता है। कभी पैसा खोनेमें भी लाभ होता है। कभी-कभी किसीके मरनेमें भी लाभ होता है। संन्यासी होना त्यागमय जीवन—अकेला जीवन बिताना, इसमें भी भगवान्की कृपा है।

एकबार मैं घरसे भागकर चित्रकूट जा रहा था। मार्गमें एक परिचित मिले। बोले—'अकेले जा रहे हो या कोई साथ है?'

मैंने कहा—'मैं हूँ और मेरा भगवान् है।' जब दूसरे साथ होते हैं, तब भगवान्का पता नहीं लगता। हम अकेले होते हैं तब भगवान्का पता चलता है कि वह हमारी कैसे सहायता करता है। मुझे ऐसे स्थानपर रोटी मिली है, जहाँ रोटी मिलनेकी कोई आशा नहीं थी। भूखे थे तो मार्गमें चलते-चलते किसीने बुलाकर खिला दिया। जिसने आपको मुख दिया, शरीर दिया, पेट दिया, उसीने रोटी दी है। आपकी एक-एक चेष्टा भगवान्की दृष्टिमें है। जीवनमें जो भी घटना घटे, उसमें भगवान्का हाथ—भगवान्की करुणा देखो—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥

भगवान्की कृपाको भली प्रकार देखता हुआ, अपने शुभाशुभ कर्मफलको भोगते हुए, हृदय, वाणी, शरीरसे जो भगवान्के सम्मुख नत रहता है, मुक्तिपद का वह स्वत्वाधिकारी है।

जीवनकी किसी घटनाका कर्ता कोई मनुष्य नहीं है, ईश्वर है। अतः जब तुम किसी काम करनेवालेको गाली देते हो तो उस काम करनेवालेको गाली नहीं देते, गाली सीधे ईश्वरको जाती है। एक बार किसी बड़े पण्डितने कोई बात कही। बात मुझे जँची नहीं। मैंने कह दिया—'किस मूर्खने ऐसा कहा है?' उस पण्डितजीने मेरे गुरुजीका नाम लेकर कहा—'उन्होंने कहा है?'

मैं—'तब तो ठीक कहा है।'

पण्डित जी—'पहले गाली दे दी, अब कहते हो—ठीक कहा है।' इसी प्रकार हम कार्योंको दूसरोंका किया मानकर गाली देते हैं। जैसे खीर खिलाने

वाला चटनी, नमक, मिर्च भी परसता है कि इन्हें बीच-बीचमें खानेसे खीरका स्वाद बढ़ जायगा, वैसे ही भगवान् बीच-बीचमें अपमान, दुःख, अभाव, रोग भेजते हैं। इन्हें हमारे अभिमानको तोड़नेके लिए भेजते हैं।

जन्माष्टमी भगवान्का अवतार-काल है। शरद-पूर्णिमा रासका दिन है। इसी प्रकार रामनवमी, शिवरात्रि आदि भगवत्स्मरण करानेवाले काल हैं। प्रत्येक महीनेमें एकादशी, द्वादशी, प्रदोषादि आते हैं। अयोध्या, वृन्दावन, वाराणसी आदि देश भगवत्स्मरण करानेवाले हैं। संत ज्ञानेश्वर, एकनाथ, नामदेव, तुकाराम, नरसी मेहता, सूरदास, तुलसीदास, गुरुनानक, आलवार, नायनार आदि सन्तोंको भगवान्ने हमारे कल्याणके लिए कृपाकरके पृथिवीपर भेजा। भगवान्ने हमें हृदय दिया कि उनसे प्रेम करें। बुद्धि दी कि उनके विषयमें सोचें।

आपको एक सूची बनानी चाहिए कि प्रतिदिन आप कितनी देर अपने और अपने परिवारके लिए काम करनेमें लगाते हैं? कितना समय समाज तथा दूसरोंको देते हैं तथा कितना समय ईश्वरके लिए लगाते हैं? यदि आठ घण्टे अपने और परिवारके लिए लगाते हैं तो दो घण्टे समाजके लिए तथा दो घण्टे ईश्वरके लिए भी लगाइये। सारा जीवन स्वार्थके लिए ही लग जाय, यह कैसा जीवन है?

भजन हाथसे-जीभसे ही नहीं, पाँवसे भी सम्भव है। एक अच्छे महात्मा हैं। वे बोलते नहीं, किन्तु सब समय बैठे तो रह नहीं सकते। उन्होंने पाँच-सात गजका गोवर्धन बना लिया है। उसकी १०८ परिक्रमा करते हैं। यह पैरसे भजन ही करना तो है। इससे घूमना भी हुआ जिससे स्वास्थ्य ठीक रहे और भजन भी हुआ। क्रिया कुछ करो, किन्तु हृदयमें भाव हो कि भगवान्के लिए कर रहे हो, तो वह भजन है। हाथसे भगवान्के लिए कुछ करो। मुखसे जप, पाठ, कथा करो। माला चढ़ाओ या पूजा—परिक्रमा करो। जिसने तुम्हें शरीर, हृदय, बुद्धि दी, परिवार दिया, खुशियाँ दीं, उसके लिए जीवनमें कुछ न किया जाय, यह तो भारी कृतघ्नता है। तुम्हारे पास बेटे—बेटीके लिए है, पति या पत्नीके लिए है, शरीरके लिए है, परन्तु ईश्वरके लिए कुछ नहीं है? जब हर बातमें भगवत्कृपा दीखती है, तब भक्ति होती है। एक है जो रातदिन तुम्हारी रक्षाके लिए सावधान रहता है। उस ईश्वरको देखो। पैसेके स्थानपर ईश्वरको चाहो। पैसा तो प्रारब्धसे मिलता है।

आपका उत्तराधिकारी चाहता है कि आप जल्दीसे जल्दी चाबी उसे दे दें। वह कहता है—'अब ये बुड्ढे हो गये, इन्हें अब भजन करना चाहिए। अब ये काम-धन्धेमें क्यों व्यस्त रहते हैं?' आप जिससे सबसे अधिक प्यार करते हैं, जिसे अपना सब कुछ दे जाना चाहते हैं, वह चाहता है—'आप शीघ्र दे जायँ।' आप मोहमें फँसे हैं। संसारके विषय नाशवान् हैं। ये एक दिन अवश्य छूटेंगे। एक सज्जन समाचारपत्र पढ़ रहे थे, बैठे-बैठे ही मर गये। एक स्वस्थ व्यक्ति काम कर रहे थे, सहसा नेत्र-ज्योति चली गयी। न विषयोंका हिसाब है कि वे कबतक रहेंगे, और न इन्द्रियोंका ठीक है कि वे कबतक काम करेंगी। न मनका पता है कि जो आज प्रिय लगता है, वह कल भी प्रिय रहेगा या नहीं? शरीरका भी ठीक नहीं कि कबतक रहेगा? यह भोगायतन देह नदीके कगार पर बैठा है। आग लग गयी तब कुआँ खोदने लगना समझदारी नहीं है। पहलेसे कुआँ होगा तब आग बुझेगी। अतः जीवनमें पहिलेसे तैयारी करो।

भक्तिके दो पुत्र हैं—ज्ञान और वैराग्य। जितनी-जितनी भक्ति मनमें आयेगी, संसारसे उतना वैराग्य होगा और भगवान्‌के विषयमें उतना ज्ञान होगा।

आप घड़ीको वाटरप्रूफ रखते हैं, शाकप्रूफ रखते हैं कि कभी भींग जाय या हाथसे गिर जाय तो खराब न हो, किन्तु अपने हृदय और मस्तिष्कको सुरक्षित बनाकर नहीं रखते? उसकी यही सुरक्षा है कि उसे भगवान्‌के चरणोंमें लगा दो। यदि कहीं संसारमें हृदय लगाओगे तो दुःखी होगे। अतः ईश्वरका चिन्तन करो।

● ● ●

संसार और कुछ नहीं अपना देह ही है और अहंता ममता ही माया है जो देहसे लिपटी हुई है। इन दोनोंको (अहंता-ममता)को हटाकर अपने तटस्थ, कूटस्थ, असङ्ग आत्माको जान लिया तो न संसार रहेगा न माया। फिर वहाँ पकड़ने, छोड़नेको कुछ नहीं रह जायगा।

वेदमें सन्त

ऐसा हतभाग्य कौन प्राणी होगा जो त्रिविध दुःख-निवारणके लिए सचेष्ट न हो। त्रिविध दुःखका निवारण तभी होगा जब उसके कारण अज्ञानका ब्रह्मविद्याके द्वारा नाश हो। ब्रह्मविद्याका उदय सन्त कृपापर निर्भर है। इसी भावसे गर्गसंहितामें कहा है—

'नृणामन्तस्तमोहारी साधुरेव न भास्करः'

अर्थात्—'वाह्य अन्धकारका नाश सूर्य निःसन्देह कर सकता है किन्तु मनुष्योंके आन्तरिक अन्धकारका नाश साधु (सन्त) ही कर सकते हैं, सूर्य नहीं।' उन सन्तोंके लक्षण, सन्त शब्दका अर्थ क्या है, वह शब्द साधु है व अपभ्रंश, उसका वेदमें प्रयोग है या नहीं। यदि है तो कर्मयोगी, भक्त और ज्ञानी इन सबके लिए या किसी एकके लिए इत्यादि विषयोंकी मीमांसा इस लेख द्वारा की जाती है।

सन्त शब्द चार तरहसे बना है—'षण सम्भक्तौ' (४६५) धातुसे औणादिक तन् प्रत्यय करनेसे निष्पन्न सन्त शब्दका अर्थ 'सनति सम्भजति लोकाननुगृह्लाति' इस व्युत्पत्तिसे लोकानुग्रहकारी होता है। वह सन्त शब्द साधु तो है परन्तु शास्त्रमें प्रयुक्त नहीं है। (१) शम् शब्दसे 'कंशंभ्यांबभयुस्तितुतयसः' (अष्टा० ५।२।१३८) इस पाणिनीय सूत्र द्वारा त प्रत्यय होकर 'शन्त' शब्द बनता है। जिसका अर्थ 'शं सुखं ब्रह्मानन्दात्मकं विद्यते यस्य' इस व्युत्पत्तिसे ब्रह्मानन्दसम्पन्न व्यक्ति है। इसीका अपभ्रंश 'सन्त' शब्द है। (२) 'षणुदाने' (१४६५) धातुसे 'क्तिचक्तौ

वेददर्शनाचार्य महामण्डलेश्वर
श्रीस्वामी गंगेश्वरानन्दजी महाराज

च संज्ञायाम्' (३।३।१७४) इस पाणिनीय सूत्रके अनुसार क्तिच् प्रत्यय होकर सन्ति शब्द बना, जिसका अर्थ 'सनोति प्रार्थितं फलं प्रयच्छति' इस व्युत्पत्तिसे फलदाता है। उस सन्ति शब्दसे तत्र साधु अर्थमें यत् प्रत्यय होकर सन्त्य शब्द बनता (होता) है। 'फलदाताओंमें श्रेष्ठ' इसका अर्थ है। इस शब्दका ऋग्वेदमें बहुत स्थलोंमें प्रयोग हुआ है—

गार्हपत्येन सन्त्य ऋतुना यज्ञनीरसि।
देवान् देवयते यज॥
(ऋ० मं० १ सू० १५ मं० १२)

'फलदाताओंमें श्रेष्ठ अग्निदेव! आप गृहपति सम्बन्धी रूपसे युक्त हैं, ऋतुदेवके साथ यज्ञके निर्वाहक हैं। देव-कृपाकांक्षी यजमानके लिए देवयजनको निर्विघ्न सम्पादन करें।' इस मन्त्रमें अग्निदेवके लिए फलदाताओंमें श्रेष्ठ अर्थको लेकर सन्त्य शब्द प्रयुक्त हुआ है। ब्रह्मवित् महात्माओंका देवदुर्लभ ब्रह्मविद्या-रूपी फल देने के कारण फलदाताओंमें सर्वोच्च स्थान है। अतः लोग अधिकतर उन्हें ही सन्त्य कहने लगे। वही शब्द कुछ विकृतिके साथ सन्त सब्दके रूपमें आजकल महात्माके अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'अस भुवि'से शतृ प्रत्यय होकर सत् शब्द बनता है जिसके प्रधान अर्थ दो हैं—विद्यमान और श्रेष्ठ, यथा गीतामें—

सद्भावे साधुभावे च सादत्येतत् प्रयुज्यते।

● ● ●

तमिल कवि सुब्रमणिय भारतीका
दार्शनिक काव्य : एक विश्लेषण

'कोयल गीत' (कुयिल् पाट्टु)

• डा० पी० जयरामन

चेतनकी सुषुप्तिके अवसर पर अवचेतनका आविर्भाव होता है; उस स्थितिमें ही वन्धन विहीन, उन्मुक्त भावनाओं तथा कल्पनाओं-का जागरण होता है और क्रमशः कल्पनाओंकी अस्फुट छायाएँ साकार होती हैं। तमिल महाकवि सुब्रमणिय भारतीका रूपक कथा काव्य '**कुयिल् पाट्टु**' (कोयल गीत) ऐसे ही अवचेतनके आवि-र्भावके समय उद्‌भूत कलाकृति है जिसमें स्नेह, सौन्दर्य, स्वर एवं आत्मज्योतिसे विनिर्मित अलौकिक लोकका चित्रण हुआ है और जो वस्तु-जगत्‌के सीमा-वैविध्यसे दूर अलौकिक यथार्थके आधारभूत भाव-जगत्‌का सुमधुर आख्यान प्रस्तुत करती है। भारतीके इस काव्यमें आत्मबद्ध अन्तर्मुखी भावनाकी कलात्मक अभिव्यक्ति हुई है। व्यक्तित्वमें भाव-समष्टिका चित्रांकन प्रस्तुत करनेवाला भारती-का यह काव्य जीवनके स्पन्दनमय सत्यको कल्पनाके माध्यमसे उपस्थित करता है।

भारतीके लिए प्रकृति सौन्दर्य-की उन्मुक्त केन्द्रभूमि है। उनकी प्रकृति सम्बन्धी चेतनाका काव्यमय स्वरूप उनका प्रस्तुत काव्य है। भारतीका संवेदनशील हृदय इस काव्यमें अनुभूतिके द्वारा सूक्ष्म सौन्दर्य-रूपोंकी सृष्टि करता है। 'कोयल गीत' मानवीय मनके विविध पक्षोंसे लेकर प्राकृतिक ध्वनियोंके आकर्षण तकमें सौन्दर्य-को ही प्रमुखता प्रदान करता है। सारी काव्य-रचना प्रकृतिके उन्मुक्त वातावरणमें हुई है और उसमें मानवके अन्तर्मनकी विविध प्रवृत्तियोंका भी स्वच्छन्द उद्‌घाटन हुआ है। संगीतमय भाव-संकलन इस काव्यकी अप्रतिम विशेषता है।

काव्यका विचित्र कथानक

प्रातःकालका समय था; सूर्य-की कोमल एवं शान्त किरणें सर्वत्र विकीर्ण थीं। नील सागरकी छटा

अलौकिक थी; वह पूर्वी सागर-तटपर स्थित पांडिचेरिका प्रदेश था। कवि भारती लहरानेवाले सागर-तटसे होते हुए अमराईकी ओर जारहे थे। उस सात्त्विक वातावरणमें सागरकी तरंगोंके नादसे भारतीको वेद-मन्त्रोंकी ध्वनि सुनायी पड़ रही थी। अमराईमें अनेक पक्षी आत्म-विस्मृत हो एक कोयलका अमर गान सुन रहे थे। कोयल एक वृक्षकी शाखापर बैठकर अपने स्नेहाभिभूत हृदयकी स्थितिको मधुर नादमें व्यक्त कर रही थी;

"प्यार प्यार, प्यार वरना
मृत्यु, मृत्यु, मृत्यु।
नाद, नाद, नाद, नादका
यदि नाश हो तो
ध्वंस, ध्वंस, ध्वंस।"

कवि भारती कोयलके मधुर और करुण गानके प्रति आकृष्ट हुए। अमराईसे दूसरे पक्षी उड़ गये थे; एकांत था; तब कविने कोयलसे उसकी वेदना तथा मधुर ध्वनिके रहस्यके बारेमें पूछा। उसने कहा : 'निर्झरिणियोंका संगीत, सागरकी तरंगोंकी अमर ध्वनि, पक्षियोंका कलरव आदि विश्व-प्रकृतिमें व्याप्त विविध नादों-से उसे यह अलौकिक ध्वनि प्राप्त हुई और वह प्यारकी चाहमें कूकती है; अन्यथा मृत्युकी चाहमें तड़पती है।' कवि आत्मविभोर हो खड़े रहे और कोयलने उनसे प्रार्थना की कि वेदनाके सागरमें डूबनेवाले मेरे जीवनमें आप सशक्त नौका बनकर आये। आप आजसे चौथे दिन यहाँ आइए। मेरा चित्त हरणकर आप जा रहे हैं। चौथे दिन अवश्य आइए। तब-तककी अवधि मेरे लिए भीषण रहेगी।

किन्तु कवि दूसरे ही दिनकी प्रतीक्षामें सारी रात जागते पड़े रहे। प्रातःकाल सूर्योदय होते ही कोयलको खोजते हुए वे अमराईमें गये तो वहाँ कोयलको एक बन्दरसे प्रेमालाप करते देखा और क्रोधा-वेशमें उन्होंने बन्दरको मारनेके विचारसे कटार फेंका। किन्तु कोयल और बन्दर गायब हो गये और तब अनेक पक्षी वनमें उड़ते हुए आये। कवि थके माँदे लज्जा और वेदनाके साथ घर लौटे।

तीसरे दिन प्रातःकाल जब सारा वातावरण सूर्यकी किरणोंसे तेजोमय था, कवि कोयलसे मिलने-की कामना एवं आशा लिए अमराईमें पहुँचे। किन्तु वहाँ जब कोयलको एक बैलसे प्रेमालाप करते देखा तो वे अत्यन्त क्रुद्ध हुए। क्रोधकी आगमें कविका सारा शरीर जलने लगा। उन्होंने क्रोधाभिभूत - अवस्थामें बैलको मारनेकी कोशिश की। किन्तु दोनों

बच गये। फिर भी कविका कोयलके प्रति स्नेह, क्रोध एवं वेदनाके बीच बढ़ता ही रहा, कम नहीं हुआ। वे प्रथम दिवसकी कोयलकी करुण पुकार तथा अपने मोहकी याद करते-करते सो गये।

चौथे दिन प्रातःकाल अमराईमें कवि कोयलसे एकान्तमें मिले, कोयल वही पुराना वेदनासिक्त गीत गा रही थी। कवि क्रोधमें कोयलको कटु वचन सुनाने लगे। उनमें कोयलको मार डालनेकी इच्छा जागृत हुई; किन्तु करुणावश होकर अपनेको उन्होंने रोका। तब कोयल कविको अपनी करुण कथा सुनाने लगी, 'प्राण, मुझ निरपराधपर आप क्रोध करें तो मैं कैसे जीवित रह सकूँगी? सूर्य ही तप्त करे तो कमलकी क्या गति होगी? माता ही मारने लगे तो शिशुकी शरण और कहाँ होगी?' तदनन्तर कोयल अपने पूर्व जन्मकी कथा सुनाने लगी जो उसे एक महर्षि द्वारा विदित हुई थी।

'कोयल पूर्व जन्ममें चेर प्रदेशके दक्षिणी भागमें एक पर्वतीय स्थलपर व्याध वर्गके मुरुगन् नामके राजाकी पुत्री 'कुयिलि'के रूपमें जन्मी थी। उसके अनुपम सौन्दर्य-पर उसके मामाका पुत्र 'माडन्' मुग्ध हो गया और उसके मोहको देखकर कुयिलिने सहानुभूतिवशात् उससे विवाह करनेका वचन दिया। इस बीच 'तेजमलै'का राजा 'मोट्टैप् पुलियन' अपने पुत्र 'नेट्टै कुरंगन'के लिए कुयिलिको माँगने लगा तो कुयिलिके पिताने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया। इस बातकी जानकारी मिलते ही 'माडन्' कुयिलिको कटु वचन सुनाने लगा तो कुयिलिने उसे आश्वासन देकर समझाया और कहा कि यदि यह विवाह बलात् हो भी जाय, तो भी कुछ ही महीनोंमें 'मंगल सूत्र'को कुरंगनके हाथ देकर वह उसके पास आ जायेगी। एकदिन कुयिलि अपनी सखियोंके साथ जंगलमें खेलती-कूदती रही तो वहाँ चेर राजकुमारका आगमन हुआ। राजकुमारको देखकर सखियाँ डरती हुई भाग गयीं। कुयिलि और राजकुमार, दोनों एक दूसरेके प्रति आकृष्ट हुए। राजकुमार कुयिलिपर मुग्ध हुआ और कुयिलिने प्रेमगद्गद अवस्थामें आत्मसमर्पण कर दिया। उस अवसरपर वहाँ कुरंगन और माडन् आये और दोनोंने अपार क्रोधमें राजकुमारपर तलवार चलायी। मृत्युके पूर्व राजकुमारने भी अपनी तलवारके वारसे उन दोनोंको धराशायी कर दिया। कुयिलिके नयनोंसे अश्रु-

धारा बहने लगी तो राजकुमारने उसे आश्वासन देते हुए कहा कि अगले जन्ममें हम दोनों फिर मिलेंगे। राजकुमारकी अंतिम मुसकानको कुयिलि विस्मृत नहीं कर सकी।'

महर्षिने यह भी कहा था कि तोंडैप्रदेशके एक समुद्रतटीय नगरके वनमें उस राजकुमारका जन्म मानवके रूपमें हुआ है। वह जब कोयलको देखेगा तब उसपर मुग्ध हो जायेगा। इस जन्ममें विन्ध्य-गिरिके एक व्याधकी पुत्रीके रूपमें ही कुयिलिका जन्म हुआ। किन्तु कर्म-फलसे पिशाचरूपमें संचार करनेवाले माडन् और कुरंगनने यह सोचकर कि वह इस जन्ममें भी राजकुमारसे मिलेगी, उसे कोयलके रूपमें बदल दिया और उसका पीछा करने लगे। महर्षि यह कहकर सन्ध्या करने चले गये कि तोंडै प्रदेशका वह प्रेमी जब प्रेयसी कोयलके गानपर मुग्ध होगा तब माडन् और कुरंजन अपने मायावी स्वरूपोंसे प्रेमीके चित्तको शंकालु बना देंगे और प्रेमी भी क्रोधमें आकर कोयलका परित्याग-कर देनेका निर्णय करेगा। आगेकी बातें यथासमय विदित होंगी।

कोयलने अपनी सारी कथा सुना दी और कहा कि अब भी आपको सन्देह हो तो मेरी हत्या कर दीजिए। यह कहते हुए कोयल कविके हाथमें गिर पड़ी। कविका चित्त निष्कलंक हो गया और वह प्रेमसे उसका चुंबन करने लगा तो वहाँ कोयल नहीं थी, किन्तु उसके स्थानपर एक अत्यंत रूपवती स्त्री खड़ी थी। थोड़ी देर तक कविको अपलक देखती रहनेके पश्चात् वह लज्जासे झुक गयी। उस रूपवतीके बंधपाशमें कवि किंचित् समयतक आत्मविस्मृत दशामें थे।

थोड़ी देरमें वह सारा वाता-वरण स्वप्न-सा हो जाता है। कवि अपनेको ताड़पत्र, लेखनी, समाचार-पत्र, पुरानी चटाई आदिके बीच अपने स्वाभाविक वातावरणमें पाते हैं। तब उनको विदित होता है कि वह सारी घटना प्रातःकालीन सौन्दर्यकी छटामें उद्भूत कल्पनाकी उपज थी—दिवा स्वप्न थी।

अंतमें कवि भारती तमिलके पण्डितोंके समक्ष यह समस्या प्रस्तुत करते हुए काव्यको समाप्त कर देते हैं।

'काल्पनिक कथा होनेपर भी यदि इसमें उनको किसी वेदान्त-तत्त्वका आभास मिले तो वे कृपया बतायें।'

रूपकत्व

भारतीकी कल्पना एवं काव्य-प्रतिभाके पुष्ट प्रमाणके रूपमें प्रस्तुत इस काव्यको केवल

काल्पनिक कथा काव्य अथवा दिवास्वप्नको सृष्टि कहकर उसके मूल्यांकनकी इति नहीं की जा सकती। भारती यथार्थके भोक्ता थे, कल्पनाजीवी नहीं थे। उन्होंने वस्तुतः 'कोयल गीत'को जीवनसे संश्लिष्ट काव्यके रूपमें ही प्रस्तुत किया है।

वेद, दर्शन, योगसूत्र, गीता आदिके ज्ञाता भारती वेदान्ती थे। उनकी प्रस्तुत रचनाके मूलमें उनका वेदान्ती-स्वरूप परिलक्षित होता है। काव्यका अन्तरंग-साक्ष्य इसका प्रमाण है। काव्यके आरंभमें जब वे प्रातःकालीन समुद्र-तटका वर्णन करते हैं वहाँ उनका कहना है—**'वेहत्तिरैहलिनाल् वेदप्-पोरुल पाडि'** अर्थात् समुद्रकी तरंगोंमें भारतीको वेदमंत्रोंका निनाद सुनायी पड़ता है। काव्यांतमें प्रस्तुत की गयी समस्यामें भारतीने अपने कल्पना काव्यकी अंतर्धाराके रूपमें वेदांत-तत्त्वका उल्लेख किया है। वास्तवमें इस काव्यकी संरचनाकी भूमिकामें भारतीका दार्शनिक तत्त्व चिन्तन सूक्ष्म रेखा बनकर विद्यमान है।

हमारी दृष्टिमें प्रस्तुत सारा काव्य सांख्यदर्शनसे ओतप्रोत है। प्रकृति और पुरुषका जो सम्बन्ध सांख्यदर्शनमें विवेचित है वह इस काव्यमें आद्यन्त पाया जाता है।

सांख्यदर्शनके अनुसार प्रकृति एवं पुरुषकी बद्धावस्थामें प्रकृतिका विसदृश परिणाम भोग-सामग्री प्रस्तुत करता है; यह जीवनके व्यावहारिक सत्यका पक्ष है। सब प्रकारके कर्मोंका फल भोगनेके पश्चात् श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि द्वारा जब पुरुष प्रकृतिके यथार्थ तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करता है और स्थितप्रज्ञ हो जाता है तब प्रकृति उससे अलग हो जाती है। विवेक-ख्यातिसे ही वह प्रवृत्ति-विमुख होकर आत्मज्ञान प्राप्त करता है; अर्थात् सशक्त आत्माकी उन्मुक्त दशामें प्रकृति जीवन्मुक्त पुरुषको छोड़कर विलुप्त हो जाती है। सांख्यदर्शनने इसे नर्तकी-पुरुषके व्यवहारसे स्पष्ट किया है; 'हाव-भाव-विलासवती और विविधालंकारशोभिता नर्तकी जैसे पार्षदोंको नृत्य, गीत आदिसे अपनेको दिखाकर अन्ततः लज्जा-वनता होकर चली जाती है वैसे ही प्रकृति भी पुरुषको सुखदुःखा-न्तर्भावसे आत्म-दर्शन करानेके पश्चात् विलग हो जाती है।"

इसी दार्शनिक सत्यका कला-त्मक विवेचन भारतीके 'कोयल गीत'में हुआ है, कोयल पहले कविको मुग्ध करती है; अपने प्यार, सौन्दर्य तथा संगीतके बलपर विविध दृश्य दिखाकर मोहके गर्त-

में डाल देती है। फिर वही कोयल कविको सबसे स्वतन्त्र बना देती है कविको सत्यका पूर्ण आभास-प्रदान कर मुक्त कर देती है और स्वयं पुरुषकी जीवन्मुक्त दशामें उसे अमर आनन्द प्रदान करती चली जाती है। वास्तवमें स्वच्छन्द ज्ञानी पुरुषको प्रकृति-सेवाकी आवश्यकता नहीं है। अन्ततः प्रकृति (कोयल) पुरुषके अहंकार, बुद्धि (बन्दर, बैल) आदि बन्धनोंको काटकर उसे विशुद्ध चेतन बनाकर विश्वप्रांगणमें स्थितप्रज्ञ-दशामें प्रस्तुत कर देती है।

कोयल (प्रकृति) कवि (पुरुष) को क्रम-क्रमसे बन्धनोंसे छुड़ानेके लिए गतिशील है; उसका सारा व्यापार कविके अन्तःस्थलको विशुद्ध तथा निर्बन्ध बनानेके लिए है। उसमें उसे पूरी सफलता मिलती है। अनन्तर उसे उस जीवन्मुक्तके पास कोई काम नहीं रहता; अतः वह विलुप्त हो जाती है।

कोयल गीतके प्रस्तुत कथानक द्वारा अप्रस्तुत दार्शनिक तत्त्वकी अभिव्यंजना हुई है। इस प्रवृत्ति-निवृत्तिपरक प्रकृति-कार्यका संयोजन सांख्यदर्शनके उस सिद्धान्तपर आधारित है जिसके अनुसार अचेतन होनेपर भी प्रकृतिकी प्रवृत्ति उसी प्रकार पुरुष-विमोक्ष-कारण होती है जिस प्रकार अचेतन होनेपर भी गो-शिशु-पोषणके लिए दूधका स्वयं ही प्रस्राव होता है। जैसे विश्व उत्सुकतावशात् इच्छा-निवृत्ति के लिए कर्मरत होता है वैसे ही प्रकृति पुरुषकी मुक्तिके लिए प्रयत्नशील होती है और अन्तमें कृतकार्य होकर जीवन्मुक्त पुरुषके मार्गसे चली जाती है।

अतः 'कोयल गीत' सांख्य-दर्शनानुमोदित सत्यका कलात्मक प्रतिमान है।

इस काव्यमें नियोजित रूपकत्वका विश्लेषण दूसरे प्रकारसे भी किया जा सकता है।

कोयल इस रचनामें पुरुष, बन्दर और बैल, इन तीनोंसे स्नेह करती चित्रित की गयी है, किन्तु पुरुषके प्रति उसका स्नेह ही अमर एवं अटल है। इस काव्यकी कोयल आत्माकी प्रतीक है तो पुरुष (राजकुमार अर्थात् कवि) ब्रह्मका प्रतीक है। कोयल जिस वनमें पुरुषका परिचय पाती है अथवा अनादि एवं अनन्त प्रियतम पुरुषसे अलग होकर विरहावस्थामें चिरपरिचित उस पुरुषसे मिलनेकी उत्कंठामें अश्रुसिक्त नादप्रसार करती हुई अन्तमें ईषत् परिचय प्राप्त करती है वह वन मायामय संसार है। वहाँ हम आत्माको पहले स्वार्थ, अहंकार आदि कुत्सित

मन: प्रवृत्तियों तथा पश्चात् जड़तापूर्ण बौद्धिक पाशविकताके वशीभूत होती हुई देखते हैं। तमिल भाषामें मनको 'वन्दर' (मनक् कुरंगु = मनरूपी वन्दर) और जड़तापूर्ण भावनाविहीन स्थितिको 'वैल' (माडु) शब्दोंसे अभिहित किया जाता है । कोयल स्वयं सौन्दर्य, संगीत तथा स्नेहकी प्रतीक है। उसे 'कुरंगन' और 'माडन्' (वन्दर और बैल = मन और बुद्धि)की शिकार होनेसे भ्रान्त जीवनयापन करना पड़ता है। इस भ्रान्तिसे वचकर जव वह ज्ञानमार्गपर अग्रसर होती है तब उसे ब्रह्मप्राप्ति होती है, कोयल और काव्य-नायककी, अन्तिम क्षणोंमें जो तन्मयावस्था दर्शायी गयी है वह इसी तथ्यकी सूचना देती है। भारतीने उक्त प्रसंगमें आत्मा-ब्रह्म-तादात्म्यका कलात्मक चित्र प्रस्तुत किया है;

"वहाँ खड़ी थी नारी एक,
उसने देखा अपलक मुझको
बड़े स्नेहसे, बड़े प्यार-
से थोड़ी देर,
बाद उसीने लज्जा से,
थोड़ा-सा शीश झुकाया।"

वस्तुत: यहाँ मायाबद्ध दशामें विश्ववनमें संचार करनेवाली आत्माके, नादोपासना द्वारा नादब्रह्मका साक्षात्कार कर उसमें तन्मय हो जानेका कलात्मक चित्रण प्रस्तुत किया गया है।

संक्षेपमें, भारतीका काव्य 'कोयल गीत' विश्वमायाके नानाविध आकर्षणोंसे गुजरती हुई, ब्रह्मतत्त्वकी तलाश करनेवाली आत्माकी लम्बी यात्राका आख्यान है; जिसमें आत्माको मन एवं बुद्धिकी विविध संकल्प-विकल्पात्मक द्वंद्वपूर्ण स्थितियोंसे विकट संघर्ष करना पड़ता है और अन्ततः ब्रह्मसाक्षात्कार सम्भव होता है।

अभेदमूलक अप्रस्तुत दार्शनिक विचारधाराकी सम्यक् प्रतीति करानेवाले भारतीके 'कोयल गीत'में सूक्ष्म भाव-सत्यको देखने, अनुभव करने तथा स्वीकार करनेकी संश्लिष्ट प्रवृत्ति सहज ही विद्यमान है।

• • •

अहंकार बढ़ानेवाला पुण्य भी पाप है और अहंकार-निवर्तक पाप भी पुण्य है। शास्त्र, गुरु, सम्प्रदाय द्वारा निषिद्ध आचरण पाप है।

अपमानमें भी जिसका धैर्य बना रहे, वही सत्पुरुष है।

पटेलकी छाछ

एक सन्त अपने अनेक शिष्योंके साथ मध्यप्रदेशके सुदूर क्षेत्रमें पहुँचे। उन दिनों उस क्षेत्रमें अत्यन्त दुर्भिक्षकी स्थिति थी। मध्याह्नमें भिक्षाके लिए सभी शिष्य गाँवमें बँट गये। संयोगसे आहारमें मट्ठेके सिवा कुछ न मिला। सभी महात्माओंने अपनी प्राप्त भिक्षा गुरुदेवके सम्मुख उपस्थित की! गुरुदेवने सभी पात्रोंका निरीक्षण किया। उन्हें अधिकांश पात्रोंमें अधिक पानी मिली छाछ ही नजर आयी। केवल एक पात्रमें ही छाछ गाढ़ी और पेय थी। गुरुदेवने इस बारेमें छानबीन आरम्भ की। क्यों एक ही पात्रकी छाछ गाढ़ी है?

महात्माओंके पास इसका कोई उत्तर नहीं था। एक पटु शिष्य गाँवमें चला गया और पता लगाकर गुरुदेवके सामने निवेदन किया।

अकालके कारण सारे गाँवकी भैंसों और गायोंने दूध देना बन्द कर दिया है। केवल गाँवके पटेलकी कुछ गाय और भैंसें दूध दे रही हैं। पटेलकी छाछ लाकर उसमें पानी मिलाकर सारा गाँव अपना भरण-पोषण कर रहा है। केवल एक शिष्यकी छाछ जो गाढ़ी है—पटेलके घरसे आयी है।

इसी प्रकार सनातनधर्म पटेलकी छाछ है, जिससे विश्वके सम्पूर्ण धर्मोंका प्रजनन और पोषण होता है।*

— स्वामी श्रीस्वरूपानन्दजीके मुखारविन्दसे —

*'धर्म'की परिभाषा और लक्षण तथा उनके सम्बन्धकी अनेक भ्रान्तियोंके निवारणके लिए अनन्तश्री स्वामी करपात्रीजी महाराजने 'चिन्तामणि'के लिए एक विशेष विस्तृत विवेचन लिखा है, जिसे 'चिन्तामणि'के पाठकोंके समक्ष आगामी अंकमें प्रस्तुत किया जायगा।—सम्पादक

ध्यानका विद्यार्थी

ध्यानका विद्यार्थी ध्यानमें ही घूमता है,
ध्यानमें ही बैठता है;
चाहे वह बोले या चुप रहे,
चाहे चले या शान्त खड़ा रहे,
उसके मनका सार सदा सहज विश्राममें रहता है;
वह उस तलवारके सामने भी
मुस्कराता है
जो उसकी जान लेती है;
मृत्युके समय
वह शान्त रहता है,
और विषैली वस्तुएँ
उसकी शान्तिको
भंग नहीं कर सकतीं।
मैंने भी अनेक बार जन्म
और अनेक बार मरण
प्राप्त किये हैं;
जन्म और मरण—
कितने अनन्त रूपसे
ये चलते आ रहे हैं।
परन्तु जबसे मैंने
अजातिके ज्ञानका
साक्षात्कार किया,
जो सहसा मुझपर अवतीर्ण हुआ,
भाग्यके उतार और चढ़ाव,
अच्छे और बुरे,
सब अपनी शक्ति मुझपर खो चुके हैं,
दूर पहाड़ों पर, एक छोटी-सी कुटियामें
मैं रहता हूँ,
ऊँचे हैं वे पर्वत,

गहरी है सघन वृक्षोंकी छाया,
और
एक पुराने चीड़के पेड़के नीचे,
मैं अपने भिक्षु-जनोचित निवासमें
शान्त और संतुष्ट बैठता हूँ,
पूर्ण शान्ति और ग्रामीण सादगीका
यहाँ शासन है।
जो धर्मको समझते हैं,
वे सदा सहज रूपसे कार्य करते हैं,
संसारके अधिकतर आदमी
'संस्कृत' में रहते हैं,
परन्तु ध्यानका विद्यार्थी
'अ-संस्कृत' में रहता है;
जो दूसरोंको कुछ इस आशामें देते हैं
कि बदलेमें उन्हें कुछ मिलेगा;
वे आकाशमें तीर मार रहे हैं।
वह न सच्चेको तलाश करता है,
न झूठेसे अपनेको
अलग करता है,
वह साफ देखता है
कि सभी द्वैत मिथ्या हैं
और उनमें सच्चाई नहीं है।
शून्यताका अर्थ है
एक पक्षीय न होना,
न शून्य,
न अ-शून्य,
यही तथागत-ज्ञानका सच्चा रूप है।

('ध्यान-सम्प्रदाय से')

• मुनिश्री महेन्द्रकुमार (प्रथम)

स्याद्वाद और सापेक्षवाद

साधनाके एक उच्च शिखरपर पहुँचनेके अनन्तर भगवान् श्रीमहावीरने उपदेश देना आरम्भ किया, उनका पहला उपदेश था। **'के अहं आसी, के वा इओ चुइओ पेच्चा भविस्सामि. इह णो सन्ना हवइ।'** मैं कौन था और आगामी जन्ममें क्या होऊँगा, यह ज्ञान बहुत सारे व्यक्तियोंको नहीं होता। जबतक यह ज्ञान नहीं होता, तबतक साधनामें निखार नहीं आ सकता, क्योंकि यह आस्तिक्यका आधार है।

भगवान् श्रीमहावीरका यह उपदेश एक ओर जहाँ आस्तिक्यका आधार बना, वहाँ साधनाका आदि तथा चरम सहायक बिन्दु भी बना और जैन-दर्शनका मुख्य स्तम्भ भी।

• विज्ञान

जिस प्रकार दो व्यक्ति, एक पूर्वाभिमुख बैठा है और दूसरा पश्चिमाभिमुख, विपरीत होते हुए भी निकट हैं; उसी प्रकार दर्शन और विज्ञान एक दूसरेसे दूर होते हुए भी निकट आ जाते हैं। सर जेम्स जीन्सके ये शब्द बहुत उपयोगी लगते हैं; 'दर्शन और विज्ञानकी सीमा-रेखा, जो एक प्रकारसे निरर्थक हो चुकी थी, वैचारिक पदार्थ-विज्ञान (थ्योरिटिकल फिजिक्स) के निकट भूतमें होने

वाले विकासके कारण अब वही सीमा-रेखा महत्त्वपूर्ण और आकर्षक बन गयी है।' इसे दूसरे शब्दोंमें इस प्रकार भी कहा जा सकता है, दर्शन और विज्ञान सत्यसन्धानके दो तट हैं और यथार्थताका जल इन दोनों तटोंके मध्य ही प्रवाहित होता है। भगवान् महावीरका एक वाक्य है: **'जो अज्झत्थं जाणइ वहिया जाणई, जे बहिया जाणई से अज्झत्थं जाणई'**—अध्यात्मका ज्ञाता बाह्यका भी ज्ञाता है और बाह्यका ज्ञाता अध्यात्मका भी। आत्म-द्रष्टा आत्मेतर पदार्थोंका भी ज्ञाता होता है। सर्वज्ञ केवल आत्माको ही नहीं जानता, अपितु जड़ पदार्थोंको भी जानता है। इस अभिप्रायसे आत्म-प्रत्यक्ष तथा इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, दोनों ही ज्ञानकी कोटिमें हैं तथा सत्यकी उपलब्धिके प्रमाण हैं।

• स्याद्वाद

सत्यकी ओर उन्मुख होनेपर जैन-दर्शनके क्षेत्रमें स्याद्वादकी धारा उद्भूत हुई और विज्ञानके क्षेत्रमें सापेक्षवादकी धारा। दोनों की ही मान्यता है, अनुभूतियाँ सार्वदेशिक हो सकती हैं, पर अभिव्यक्ति एक ही देशकी होती है। स्याद्वाद और सापेक्षवाद दोनों ही इसी तथ्यकी पुष्टि करते हैं। स्याद्वादमें दो शब्द संयुक्त हैं—स्याद् अर्थात् एक अपेक्षासे, वाद अर्थात् कथन करना। अपेक्षा विशेषसे जो प्रतिपादन किया जाता है, वह स्याद्वादकी कोटिमें आता है, किन्तु, साथ ही अन्य अपेक्षाओं को निराकृत न करते हुए प्रतिपादन करना।

जैन-विचारधाराके अनुसार पदार्थ गुण और पर्यायका आश्रय-स्थल है। गुण पदार्थका स्वभाव है और पर्याय उसकी अवस्था। पर्यायमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है; अतः उत्पाद और विनाश का क्रम भी चलता ही रहता है। इस क्रममें पदार्थ अपने मौलिक स्वभावको कभी भी नहीं छोड़ता।

विरोधी युगलोंकी सह-अवस्थितिके परिप्रेक्ष्यमें पदार्थके साथ नित्य-अनित्य, सद्-असद्, वाच्य-अवाच्य, एक-अनेक आदिके नाना विकल्प भी दिखायी देते हैं। साथ ही यह प्रश्न भी अपनी महत्ताको व्यक्त करता है कि क्या जो पदार्थ नित्य हैं वह अनित्य भी है? जो एक है, वह अनेक भी है? जो सद् हैं, वह असद् भी है? जो वाच्य है, वह अवाच्य भी है? जैन तत्त्व-चिन्तन इन विरोधी युगलोंका परिहार नहीं करता। वह मुक्त रूपसे इन्हें स्वीकार करता है। उसका प्रतिपापदन है—पदार्थ अपने मौलिक स्वभावमें सदैव

स्थिर है। उसमें किसी प्रकारका परिवर्तन सम्भव नहीं है, यदि स्वभावमें परिवर्तन हो जाय तो सद्की असद्में और असद्को सद्में परिणतिकी दोषापत्तिका प्रसंग भी उपस्थित हो जायगा। ऐसा किसी तत्त्व-चिंतन-धाराको अभीष्ट नहीं है।

पर्याय—अवस्थाके परिवर्तनका कोई अवरोधक नहीं हो सकता। सचेतन और अचेतन दोनों ही प्रकारके पदार्थ प्रतिक्षण कुछ-न-कुछ ग्रहण करते हैं, तथा कुछ-न-कुछ त्याग करते हैं। इसीलिए उनमें अवस्थितिके लक्षण दृष्टि-गोचर होते हैं। संक्रमण और अपक्रमणके नियमका उल्लंघन कोई कर नहीं सकता। इसी तरह विवक्षाके माध्यमसे एक-अनेक, सद्-असद्, वाच्य-अवाच्य आदिकी भी संगति है। जिसे कृष्ण माना जा रहा है, वह केवल कृष्ण ही नहीं है, अपितु उसमें सब वर्णोंका अस्तित्व विद्यमान है। इसी प्रकार जो श्वेत दिखायी देता है, वह केवल श्वेत ही नहीं है। उसमें भी नाना वर्णोंका अस्तित्व है। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थके बारेमें निरूपण किया जा सकता है। सापेक्ष सत्य अल्पज्ञ द्वारा ग्रहण होता है और सम्पूर्ण सत्य सर्वज्ञ द्वारा।

सत्यकी उपलब्धिमें देश-कालकी अपेक्षा भी अत्यावश्यक है। जैन-मनीषियोंने इसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अभिधासे पुकारा है जबतक चारों अभिधाओंको संयोजित नहीं किया जायगा, तबतक प्रतिपादन अधूरा रहेगा और जब यह होगा, तब स्वतः ही कथंचित्की मुद्रासे अंकित होकर पदार्थ स्याद्वादकी परिधिमें समा जायगा, वहाँ अस्ति-नास्ति आदि विरोधी युगलोंकी सह-अवस्थिति स्वतः ही अपनी यथार्थताको सिद्ध कर देगी। उदाहरणार्थ, घटके विषयमें हम कहते हैं—यह मिट्टीका है, राजस्थानका बना हुआ है, ग्रीष्म ऋतुका बना हुआ है, यह गौरवर्ण व अमुक नामका है, उमी समय उसी घटके बारेमें दूसरा व्यक्ति उल्लेख करता है, यह घट स्वर्णका नहीं है, विदर्भ प्रान्तका नहीं है, हेमन्त ऋतुका बना हुआ नहीं है, यह श्याम वर्ण व अमुक प्रकारका घट नहीं है। यहाँ अस्ति और नास्ति स्वतः ही देशकाल-सापेक्ष होकर प्रतिपादनके क्षेत्रमें उतरते हैं।

इसी प्रकार पदार्थ-समूह अपनी अवस्थितिमें नाना विरोधीयुगलोंको अपनेमें समाये हुए चलता है। पदार्थ-स्वरूपकी इस वास्तविकताको लक्षितकर ही जैन-मनषीयोंने गौरवके साथ कहा है—

जेण विणावि लोगस्स ववहारो सव्वहा न निव्वडई
तस्स भुवणेक्क गुरुं णमो अणेगंत वायस्स ।

अनेकान्तके बिना व्यवहारकी संघटनाकी कोई मर्यादा ही नहीं बनती है ।

● सत्यके दस प्रकार

स्याद्वादके क्षेत्रमें अपेक्षात्मक समीक्षाओंकी वहुलता है । पन्नवणा सूत्रमें सत्यको दस भागोंमें विभक्त किया गया है । यथा १. जनपद सत्य २. सम्मत सत्य, ३. नाम सत्य, ४. स्थापना सत्य, ५. रूप सत्य, ६. प्रतीति सत्य, ७. व्यवहार सत्य, ८. भाव सत्य, ९. योग सत्य और १०. उपमा सत्य । भिन्न-भिन्न देशोंकी भिन्न-भिन्न भाषाएँ हैं; अतः प्रत्येक पदार्थके भिन्न-भिन्न नाम हो जाते हैं । पर वे सब अपने-अपने देशकी अपेक्षासे सत्य हैं । कुछ शब्द ऐसे हैं भी, होते हैं जो क्षेत्र-भेदसे एक-दूसरेके विपरीत अर्थवाची भी हो जाते हैं । उहाहरणार्थ, साधारणतया पिताको 'बापू' कहा जाता है । कुछ क्षेत्रोंमें छोटे वच्चेको उसका पिता व अन्य लोग बापू कहते हैं । यह जनपद सत्यके अन्तर्गत है ।

जन-व्यवहारसे मान्य शब्द-प्रयोग सम्मत सत्य कहलाता है । जैसे पंकमें उत्पन्न होनेसे कमलको पंकज कहा जाता है, पर मेढकको नहीं ।

केवल व्यक्तिकी पहचानके लिए किया जानेवाला उल्लेख नाम सत्यके अन्तर्गत है । जैसे-किसीका नाम है, विद्यासागर और वह जानता 'क'-'ख' भी नहीं है ।

माप-तोल, गणित आदिके बारेमें निश्चय किया गया मान-दंड स्थापना सत्यको व्यक्त करता है । जैसे—इंच, फुट आदिकी कल्पना ।

वर्तमान रूपको देखकर विगत व्यक्तियोंका अध्यारोप करना रूप-सत्य है । जैसे—नाट्य-शालामें नाट्यकारोंको देखकर दर्शक कह उठते हैं; यह हरिश्चन्द्र है, यह रोहिताश्व है, यह राम है, यह सीता है आदि ।

एक-दूसरे पदार्थकी अवस्थिति में छोटे-बड़ेकी प्रतीति, प्रतीति सत्य है । जैसे—आमकी अपेक्षा आमलक छोटा है, पर गुंजाके सामने वह बड़ा भी है ।

लोकभाषामें व्यवहृत होने-वाला शब्द-प्रयोग व्यवहार सत्यकी सीमामें आता है । वहुत बार पूछा जाता है—यह सड़क किस ओर जाती है ? बटोही थका-मांदा गाँवके पास पहुँचता है और कहता है, अब तो गाँव आ गया है । पर

न तो सड़क ही कहीं जाती है और न कभी गाँव ही चलकर आता है।

इन्द्रियों द्वारा गृहीत पदार्थ-स्वरूप भाव सत्यके अन्तर्गत है। जैसे कहा जाता है—हंस श्वेत है, कज्जल काला है। यद्यपि यह यथावस्थित कथन कहा जा सकता है, पर स्थूलकी अपेक्षासे वास्तविक दृष्टि तो प्रत्येक पदार्थमें सभी वर्णोंका अस्तित्व स्वीकार करती है।

यौगिक संज्ञाएँ योग सत्यके अन्तर्गत है। जैसे—दण्डी, छत्री, स्वर्णकार, चर्मकार आदि।

उपमाके द्वारा साहित्यके क्षेत्र-में व्यक्त होनेवाला चिन्तन उपमा सत्य है। उपमा और उपमेयकी अपेक्षासे चार विकल्प किये गये हैं।

जैन-दर्शनमें अनुभूति, अभि-व्यक्ति तथा अधिगृहीति आदि सभी अपेक्षासे अनुस्यूत हैं। अतएव सत्य हमारे लिए सापेक्ष हैं। स्याद्वाद सप्तभंगी, सात नय आदिके रूपमें कुछ जटिल प्रतीत होता है तो व्यावहारिक उदाहरणोंके माध्यमसे वह सरल भी हो जाता है।

• सापेक्षवाद

ज्यों ही हम सापेक्षवादकी ओर ध्यान देते हैं; त्यों ही हमें ऐसा प्रतीत होता है कि सत्यके अधिग्रहणके लिए वहाँ भी देश-कालकी सापेक्षताको मुख्य माना गया है, किन्तु गणितकी बहुत सारी पहेलियोंके कारण वह दुरूह भी बन जाता है। सापेक्षवादकी सरलताका एक उदाहरण इस प्रकार लिया जा सकता है। एक बार प्रो० अलबर्ट आइंस्टीनकी पत्नीने उनसे पूछा—"सापेक्षवाद क्या है, यह मैं कैसे बताऊँ?" प्रो० आइन्स्टीनने एक दृष्टान्तमें उत्तर दिया—जब एक मनुष्य एक सुन्दर लड़कीसे बात करता है तो उसे एक घंटा भी एक मिनट-जैसा लगता है। उसे ही गर्म चूल्हेपर बैठा दिया जाय तो उसे एक मिनट भी एक घंटेके बराबर लगेगा। यही सापेक्षवाद है।

• परमार्थ सत्य तथा व्यवहार सत्य

प्राकृतिक स्थितियोंके बारेमें प्रो० आइन्स्टीन अपेक्षा-प्रधान बात कहते हैं। वे लिखते हैं—"प्रकृति ऐसी है कि किसी भी प्रयोगके द्वारा चाहे वह कैसी ही क्यों न हो। वास्तविक गतिका निर्णय असम्भव ही है?" ऐसा क्यों है? इसका उत्तर सर जेम्स जीन्सके शब्दोंमें इस प्रकार है। "गति और स्थिति आपेक्षिक धर्म हैं। एक जहाज, जो स्थित है, यह पृथ्वी की अपेक्षासे ही स्थिर है। किन्तु

पृथ्वी सूर्यकी अपेक्षासे गतिमें है और जहाज भी इसके साथ। यदि पृथ्वी भी सूर्यके चारों ओर घूमनेसे रुक जाय तो जहाज सूर्यकी अपेक्षा स्थिर हो जायगा: किन्तु दोनों उस समय भी आस-पासके तारोंकी अपेक्षा गति करते रहेंगे। सूर्य भी यदि गतिशून्य हो जाय, तो भी ग्रह दूरस्थ निहारिकाओंकी अपेक्षा-से गतिशील ही मिलेंगे। आकाशमें इस प्रकार यदि हम आगेसे आगे जायँगे तो हमें पूर्ण स्थिति जैसी कोई वस्तु नहीं मिलेगी।"

संशयवाद नहीं

स्याद्वाद और सापेक्षवाद दोनों ही अपेक्षाप्रधान होकर वस्तुसत्य-के उद्घाटनमें प्रेरक हो जाते हैं। बहुत सारे विद्वान् स्याद्वादको संशयवाद या संभावनावादके साथ योजित करनेका प्रयत्न करते हैं। उसका कारण है कि ये स्याद्-अव्ययको शायदका पर्यायवाची मान लेते हैं। जबकि यह अर्थ संगत नहीं है। स्याद्वाद तो जिस अपेक्षासे कथन करता है, उस अपेक्षासे वह है ही। यदि उसमें संशयात्मकता होती है तो प्रति-पादनका कोई स्वरूप ही नहीं बनता और दर्शनकी परिधिमें भी वह नहीं आता। अस्ति-नास्ति आदि विरोधी धर्म-युगलोंका युगपत् अवस्थान इसी अपेक्षासे बनता है।

• • •

एक महात्मा कहा करते थे 'दिलसे दिल मिलाओ।' अर्थात् सन्तके हृदयमें विराजमान परमात्मा, पीताम्बरधारी श्यामसुन्दरको देखो। वह झिलमिलाती श्याममूर्ति उनके हृदयमें नहीं, तुम्हारे हृदयमें अवतीर्ण हुई होगी। यही सन्तके दिलसे दिल मिलाना है।

• •

धर्म-निष्ठाका अपूर्व उदाहरण

• तरुण करुणा

महाराज शिवि यज्ञमें दीक्षित थे। यज्ञ चल रहा था। एक कपोत (कबूतर) श्येन (बाज) के भयसे भागता हुआ आया और राजाके शरीरका आश्रय लेकर छिप गया। उसी समय कबूतरका पीछा करता हुआ बाज आ पहुँचा। उसने मनुष्य-वाणीमें राजासे कहा—'तुम एक श्रेष्ठ धर्मात्मा होकर धर्म-विरुद्ध कार्य क्यों कर रहे हो? तुमने अपने जीवनमें दानसे कृतघ्नको, सत्यसे मिथ्या-भाषीको, क्षमासे हिंसकको और साधुतासे दुष्टपर विजय प्राप्त की है। लोग प्रायः उपकारीका प्रत्युपकार करते हैं, परन्तु तुमने अपकारीका भी उपकार किया है। तुमने अहितका हित किया है। पापीसे सरल निष्पाप व्यवहार किया है और जिसमें दोष दीख रहे हैं, उसमें भी तुमने गुण देखा है। यह कबूतर मेरा विधि विहित भक्ष्य है। मैं क्षुधासे पीड़ित हूँ। तुम हमारे भक्ष्यकी प्राप्तिमें बाधा डालकर धर्मका परित्याग मत करो।'

शिविने उत्तर दिया—'यह पक्षी तुमसे त्रस्त एवं भीत होकर अपने प्राणोंकी रक्षाके लिए मेरी शरणमें आया है और मुझसे केवल अभय चाहता है। मैं भला, इसका त्याग कैसे कर सकता हूँ? जो लोभ, द्वेष अथवा भयसे शरणागतका त्याग करता है, उसे ब्रह्महत्याके समान पाप लगता है। बड़े-बड़े पापोंसे बचनेके प्रायश्चित हैं परन्तु शरणागतके त्यागका प्रायश्चित नहीं है। सबको अपने-अपने प्राण प्यारे हैं। मृत्युके भयसे संत्रस्त प्राणीकी रक्षा करना धर्म है। संसारके प्राणी प्रतिदिन दुःखका अनुभव करते हैं और मृत्यु भी देखते हैं। लोग अपने उस अंगको

भी काटकर फेंक देते हैं जिससे दुःख होता हो। मैं मरूँगा—यह सोचकर प्राणियोंको कितना कष्ट होता है? दूसरेको भी तो ऐसा ही होता है। जैसा अपना जीवन वैसा दूसरेका प्रिय है। अपनी रक्षा करो और दूसरेकी भी। मैं किसी प्रकार भी यह भयभीत कबूतर नहीं लौटाऊँगा। 'इस समस्याका तुम्हारी दृष्टिसे जो समाधान हो, वह बतलाओ।'

बाजने कहा—'संसारके सभी प्राणी आहारसे ही उत्पत्ति, वृद्धि और जीवन प्राप्त करते हैं। आहारके विना कोई चिरकालतक जीवित नहीं रह सकता। तुम मेरा आहार छीन लोगे तो मैं और मेरा परिवार—पुत्रदार सब मर जायँगे। एक कबूतरकी रक्षा होगी, बहुतोंके प्राण जायँगे। महाराज! जो धर्म किसीके धर्ममें बाधा डालता है, वह वस्तुतः धर्म नहीं है। जो अविरोधी धर्म है, उसीको सत् पुरुष धर्म कहते हैं।'[1] इसलिए धर्म-विरोधकी समस्या उत्पन्न होनेपर गौरव-लाघवका विचारकर धर्म-निर्णय करना चाहिए।'

शिविने उत्तर दिया—सबसे बड़ा धर्म है—भयभीतको अभय दान करना। एक सहस्र ब्राह्मणोंको सहस्र गायोंका श्रृंगार करके दान करनेकी अपेक्षा एक प्राणीको अभय-दान करना श्रेष्ठ है। चाहे किसीको भी अभय दान करे, दयालु दाता सर्वदाके लिए अभय हो जाता है। स्वर्ण, गाय और वस्त्र देनेवाले सर्वत्र हैं। अभयदाता दुर्लभ है।

१. धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः परंतप।
अविरोधी च यो धर्मः स धर्मः सद्भिरुच्यते॥

यज्ञका फल काल-क्षयी है। अभयदानका फल अक्षय है। पुण्यक्षेत्रमें तपस्या, तीर्थसेवा, स्वाध्याय और यज्ञ अभय-दानकी तुलनामें तुच्छ हैं। पृथिवीके दानसे अभयदान बड़ा है। मैं अपना प्राज्य-साम्राज्य त्याज्य समझता हूँ। दुस्त्यज शरीरका त्याग कर सकता हूँ परन्तु भय-संत्रस्त दीन कबूतरको नहीं छोड़ूँगा।'

शिविने अपना भाषण चालू रखते हुए अपने हृदयको खोलकर रख दिया। यदि मेरा किञ्चित् भी शुभ कर्म हो तो उसके फल-स्वरूप मैं यही चाहता हूँ कि जन्म-जन्म दुःख-पीड़ित प्राणियोंकी पीड़ा मिटाता रहूँ। न मुझे चाहिए राज्य, न स्वर्ग, न मुक्ति। मैं चाहता हूँ केवल इतना ही कि दुःख-संतप्त प्राणियोंका दुःख मिट जाय।[1] मैंने असत्य भाषण नहीं किया है—इस सत्यसे ईश्वर मेरे ऊपर प्रसन्न हो। बाज! तुम आहारके लिए और कुछ भी ले लो।'

बाजने कहा—'विधाताकी सृष्टिमें कबूतर हमारा भक्ष्य बनाया गया है। दूसरे आहारसे हमारा कोई प्रयोजन नहीं। हमारे भक्ष्य-भोज्यका वर्णन वेदमें भी है। तुम निस्सार धर्मका आश्रय मत लो।'

शिविने उत्तर दिया—'मैं कुशास्त्रका अनुयायी नहीं हूँ। शास्त्रका आदेश है—ये सर्वश्रेष्ठ धर्म हैं—सत्य और दया।' एक ओर सबके लिए दान हो और दूसरी ओर एक प्राणीपर दया हो। पहलेसे दूसरा श्रेष्ठ है। वेद, यज्ञ, तीर्थाभिषेक दयाकी तुलनामें छोटे हैं। दया ब्रह्मलोकका मार्ग दिखाती है। जो दूसरोंके हितके लिए नहीं है, वह चाहे कभी, कहीं, कुछ क्यों न हो, पशु-चेष्टा ही है। प्राणियोंकी बात छोड़ो, जो मनुष्य जंगम एवं स्थावर—सभीकी अपने शरीरके समान रक्षा करता है, वह परम गतिका पात्र है। समर्थ पुरुषको

1. यन्ममास्ति शुभं किञ्चित्तेन जन्मनि जन्मनि।
भवेयमहमार्त्तानां प्राणिनामार्त्ति-नाशकः॥
न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
प्राणिनां दुःखतप्तानां कामये दुःख-नाशनम्॥

प्राणि-हत्याकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, उसके निवारणका प्रयत्न करना चाहिए। ओ पक्षी ! मेरा समस्त महान् राज्य तुम ले लो अथवा इस कबूतरको छोड़कर और जो चाहते हो सब ले लो।'

बाजने कहा—'अच्छा, इस कबूतरके साथ तुम्हारी इतनी प्रीति है ? तो इसकी तौलका अपना माँस मुझे दे दो।'

शिवि—'यह तुम्हारा अमृतमय वचन मेरे ऊपर अनुग्रह है। जितना चाहो, मैं अपना माँस देता हूँ। सज्जन पुरुषका ऐसा स्वभाव होता है कि अप्रिय बात देरसे कहता है परन्तु तुम्हारी यह बात तो मुझे बहुत प्रिय है। तुमने इतनी देरसे क्यों कही ? क्षण-क्षण छीज रहा है यह शरीर। मर जायगा। जो मूर्ख इससे नित्यधर्मका उपार्जन नहीं करता, वह शोचनीय है। यदि शरीरका उपयोग परोपकारमें नहीं है तो प्रतिदिन इसे खिला-पिलाकर संरक्षण-संवर्द्धन करना व्यर्थ है।'[1]

बाज—'मुझे अधिक नहीं, कबूतरके बराबर तौलकर अपना माँस दे दो।'

शिविने कहा—'एवमस्तु'।

तराजूके एक पलड़ेपर कबूतर बैठ गया और दूसरे पलड़ेपर वे अपना माँस काट-काटकर रखने लगे। वे हर्षसे भरे हुए थे। उन्हें भोगेच्छा नहीं थी। प्राणियोंके सुख-की इच्छा थी। सत्पुरुष दूसरेके दुःखसे दुखी होते हैं। राजा काट-काटकर अपना तराजूके पलड़ेपर रखते जायँ परन्तु वह कबूतरके बराबर न हो। मांस क्षीण हो जानेपर वह स्वयं तराजूके पलड़ेपर बैठ गये। सचमुच परदुःखकातर, सर्वभूत हितरत महात्मा दूसरोंके लिए अपने बड़े-से-बड़े सुखका परित्याग कर देते हैं।

---

१. अध्रुवेण शरीरेण प्रतिक्षणविनाशिना।
ध्रुवं यो नार्ज्जयद्धर्मं स शोच्यो मूढचेतनः॥
यदि प्राण्युपकाराय देहोऽयं नोपयुज्यते।
ततः किमुपकारोऽस्य प्रत्यहं क्रियते वृथा॥

शिविके तुलारूढ़ होते ही देवताओंके नगाड़े बज उठे। फूलोंकी वर्षा होने लगी। राजाकी धर्म-निष्ठा अपनी पराकाष्ठा-पर प्रतिष्ठित हो गयी। वह बाज कोई पक्षी नहीं था। स्वयं इन्द्र थे। वह कबूतर अग्नि था।

इन्द्रने कहा—'हम तुम्हारी धर्म-निष्ठाकी परीक्षा करनेके लिए यज्ञ-भूमिमें आये थे। तुम्हारी करुणा अपार है। इससे पहले न किसीने ऐसा किया, न करेगा। दुष्कर कर्म है यह। अपने प्राण त्यागके संकल्पके समय प्रीति अपनी पराकाष्ठापर पहुँच गयी थी। तुम्हारी परार्थैकान्त-कल्याणी करुणा अपने स्वार्थके प्रति निष्ठुर होकर तरुणायित हो रही है। सारा विश्व कर्मपाशसे आबद्ध है और तुम उसकी मुक्तिके लिए करुणासे आबद्ध हो। तुम दोष-मुक्त तो हो ही। 'मैंने यह किया'—इस अभिमानसे भी मुक्त हो। तुम्हारे हृदयमें न विशिष्ट-शिष्टसे ईर्ष्या है, न हीनका तिरस्कार है, न समानसे स्पर्धा है, तुम लोकोत्तर पुरुष हो। आकाशमें मेघ, धरतीपर वृक्ष और मनुष्योंमें तुम केवल परोपकारके लिए बनाये गये हो। अपने प्राणसे पर-प्राणकी रक्षा परमनिर्वाणका हेतु है। तुमने एक तुच्छ पक्षीकी रक्षाके लिए अपना जीवन दे दिया। अन्य द्रव्यमें क्या रखा है। अपने पेटके लिए पशु भी जीते हैं। दूसरेके लिए जीना ही सच्चा जीवन है। चन्दन वृक्ष अपनेको शीतल नहीं करता, दूसरोंको करता है। सत्पुरुष परहित करता है। तुम स्वसुख-निःस्पृह हो। परोपकारमति हो। परमात्मा तुम्हें प्राप्त है। तुम्हारे सदृश साधुका जन्म ही जगद्हितके लिए है। तुमने अपने हाथों अपना माँस काटा है। तुम्हारी कीर्ति फैलेगी और रहेगी। अन्तमें भगवत्प्राप्ति होगी।

इन्द्र-अग्नि—दोनों अपने लोकमें चले गये।

— त्रिलोक-भूषण महाराज शिविकी जय हो। —

(महाभारत)

धर्म-प्रेरणाके स्रोत

● स्वामी श्रीअखण्डानन्द सरस्वती जी

जैसे वायुका धर्म गति और अग्निका धर्म दाह है, वैसे ही मनुष्यका धर्म मनुष्यत्व है। मनुष्य-शरीरमें मज्जागत एक विशेषता है, रक्तगत एक वीर्यवत्ता है, चित्तगत एक संस्कार है, बुद्धि-गत एक विचारधारा है, स्वभाव-गत एक रसप्रवाह है, आत्मगत एक अनुवृत्ति-व्यावृत्तिका बोध है। वस्तुतः मनुष्य धर्म छोड़कर जीवित नहीं रह सकता। भिन्न-भिन्न वस्तुओंके चिन्तनमें लगे रहनेके कारण मनुष्य आत्मनिरी-क्षण नहीं कर पाता। आप थोड़ी देरके लिए स्वस्थचित्तसे अपने धर्मके सम्बन्धमें चिन्तन कीजिये। आपको धर्म-प्रेरणा कहाँसे प्राप्त होती है ?

१. क्या आपको ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वर धर्मके लिए प्रेरित करता है ? वह प्रेरणा किस प्रकारकी होती है ? क्या उसका रूप कुछ ऐसा होता है कि तुम अपने मन एवं इन्द्रियको इस कर्मसे, भोगसे, संग्रहसे और भाषणसे अलग रखो ? इस निषे-धात्मक प्रेरणाका बड़ा महत्त्व है। आप इसपर गम्भीरतासे ध्यान दीजिये। अथवा ईश्वरसे इस प्रकारकी प्रेरणा मिलती है कि इस प्रकारका कर्म, भोग, संग्रह और भाषण करो ? प्रवर्तक प्रेरणा में धर्मको पहचानना कठिन है। क्या आप अज्ञानियोंको ज्ञान, कंगालोंको अन्न-वस्त्र, रोगियोंको औषध देनेकी प्रेरणा ग्रहण करके उसके अनुसार आचरण करते हैं ?

२. क्या आप ईश्वरकी प्रेरणा और पूर्व संस्कारोंकी प्रेरणामें भेद कर सकते हैं ? पूर्व संस्कार अच्छे-बुरे दोनों प्रकारके होते हैं। उनसे समय-समय पर दोनों प्रकारकी प्रेरणा भी प्राप्त होती है। यदि आप पूर्वसंस्कारोंके द्वारा ही अपने जीवनको संचालित करेंगे तो आपका अन्तर्द्वन्द्व कभी मिट नहीं सकेगा। अनादि कर्म-प्रवाहसे उत्पन्न संस्कार और उनसे बना हुआ स्वभाव समुद्रके बाह्य-

आभ्यन्तर दबाव और उथल-पुथल के समान परस्पर संघर्षरत रहते हैं। इनपर अपने जीवनको छोड़ा नहीं जा सकता। हाँ, इनसे ईश्वर की प्रेरणाको पृथक् करना विशिष्ट अन्तर्दृष्टिके बिना सम्भव नहीं है।

ईश्वरकी तटस्थता एवं असंगतापर दृष्टि डाली जाय तो वह कोई स्वैच्छिक, स्वतन्त्र एवं नवीन प्रेरणा नहीं दे सकता। वह आपके अन्तःकरणकी उपाधिको अपने सान्निध्य मात्रसे आभासित और सञ्चालित करता है। ऐसी स्थितिमें ईश्वरका नियमन भी पूर्व संस्कारानुसार ही मानना पड़ेगा। तब फिर हमें गम्भीरतासे यह देखना होगा कि जब हम पूर्व संस्कार अथवा उसकी उपाधि स्वीकार करके ईश्वरके द्वारा संचालित होते हैं तो हम सदा उनके द्वारा नियन्त्रित कठपुतली ही वने रहेंगे; कर्म-चक्रसे मुक्त नहीं हो सकते। हमें कुछ नवीन कर्म करने होंगे, जो अनादि कालसे अनवरत प्रवाहित कर्म-धाराको नया मोड़ दे और हमारी यात्राको मुक्तिके लिए उन्मुख करे। कम-से-कम वह ऐसी तो होनी ही चाहिए जो स्थूल देह और उसके सम्बन्धोंको शिथिल करके सूक्ष्म शरीरको प्रधानता दे। परलोक, आन्तर रसास्वादन, समाधि अथवा शुद्धि-की भावना जाग्रत् करके सत्य तत्त्वकी जिज्ञासाकी ओर ले जाय। इसके लिए नवीन क्रिया-कलापकी प्रेरणा क्या आप पूर्व संस्कारोंपर छोड़ देते हैं। अथवा इसके लिए कोई नवीन स्रोत ढूँढते हैं?

३. आपका धर्म आपके अस्तित्व, ज्ञान, आनन्द, नियन्त्रण-शक्ति और समन्वय-भावनाकी रक्षाके लिए होना चाहिए। धारणाके अभिप्रायसे 'धर्म' शब्दके प्रयोगका यही अर्थ है। इसके लिए सामाजिक परिस्थितिसे प्रेरणा लेनेपर सुधार-भावनाका जन्म होता है। भौगोलिक परिस्थितिसे विचार करनेपर राष्ट्रीयता परिपक्व होती है। ऐतिहासिक दृष्टिकोणसे देखनेपर संस्कृति-प्रेमका जन्म होता है। आचार्य-परम्परापर ध्यान देनेसे सम्प्रदाय-मर्यादा जुड़ती है। मूल पुरुषकी प्रधानतासे जातीयता आती है। श्रम और अर्थकी प्रधानतासे विचार करनेपर वर्ग-विशेषसे तादात्म्य होता है। ऐसे अनेक बाह्य कारण हो सकते हैं, जिससे आप धर्मकी प्रेरणा ग्रहण करते हों, परन्तु ये सब-की-सब दृष्टियाँ अधूरी हैं और धर्मके केवल तात्कालिक एवं एकांगी रूपका परिचय देती हैं। कभी-कभी ये परस्पर संघर्ष करती हैं और धर्मके नामपर अधर्मको ही अभिव्यक्ति देती हैं।

दृष्टि-विशेषमें आविष्ट पुरुष तमसावृत होकर अधर्मको ही धर्म मानने लगता है। उससे अपने ही प्रयोजनका गला घुट जाता है। इनमेंसे किसी एकमें आपकी प्रियता आपको पक्षपाती और दूसरोंके प्रति क्रूर बनाती है। क्या आप इनसे मुक्त रहकर धर्मका सच्चा ज्ञान प्राप्त करनेके लिए प्रयत्नशील हैं ?

४. क्या आप वस्तुके गुणावगुण और क्रिया-कलापके द्वारा निष्पन्न होनेवाले परिणामों पर अन्वय-व्यतिरेककी दृष्टिसे विवेक करके धर्माधर्मका निर्णय करते हैं? द्रव्यके गुणावगुणका विवेक केवल साधारण दृष्टिसे रासायनिक प्रक्रियाके द्वारा नहीं किया जा सकता। उसके लिए देश, काल, जाति, व्यक्ति, मान्यता, अवस्था, स्थिति, शक्ति, वय आदिका सम्पूर्ण ज्ञान अपेक्षित होता है। कब, कहाँ, किसके लिए, किस परिस्थितिमें क्या हितकारी है? यह सर्वज्ञ ईश्वरके अतिरिक्त और कौन जान सकता है ? रही बात क्रिया-कलापकी, सो समग्र मानव-जातिके लिए सार्वकालिक एवं सार्वभौम उदार दृष्टिसे विचार करनेका दावा कौन कर सकता है? अनुदीर्ण और संकीर्ण दृष्टि होनेपर अपने ग्रन्थ और पन्थका बोल-बाला हो जाता है और अपनी डफली और अपना राग बजने लगता है। द्रव्यके गुणावगुण और क्रिया-कलापके परिणामोंका लौकिक सम्बन्ध यथाकथंचित् ज्ञात भी हो जाय तो पारलौकिक सम्बन्ध ज्ञात करनेका कोई उपाय नहीं है। इसलिए यदि आप केवल अपनी बुद्धि और विवेकके द्वारा धर्मकी प्रेरणा प्राप्त करते हैं तो आप पुनर्विचार कीजिये—आपका युक्तिवाद भुक्तिका हेतु हो सकता है, मुक्तिका नहीं। क्या बालक, वृद्ध और मूर्खजन भी इस युक्तिसे धर्म-प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं ? यदि नहीं, तो धर्मके उद्गम-स्थानको और भी गहराईमें ढूँढना आवश्यक है। धर्मके प्रेरक तत्त्व इतने उथले स्तरपर नहीं रहा करते।

५. क्या आप ऐन्द्रियक ज्ञान एवं मानसिक संवेदनोंसे अपने चित्तमें जो अनुभव-संस्कार एकत्र करते हैं और उनके आधारपर जो अनुमानाभास और उनके बच्चे-कच्चे वंश-वृद्धि करते हैं, वे धर्मका साक्षात्कार करनेके लिए पर्याप्त प्रामाणिक हैं? यदि धर्मका लौकिक प्रत्यक्ष हो जाता और उसके आधार पर होनेवाले अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति अथवा अनुपलब्धिके द्वारा हम उसको देख पाते तो क्या सृष्टिमें धर्मके सम्बन्धमें इतने मतभेद और

संघर्षोंकी सृष्टि हो पाती? श्रम वस्तुशोधनके लिए होता है। धर्म अधिकारी शोधनके लिए होता है। जड़ताकी प्रधानतासे श्रम और चैतन्यकी ओर उन्मुखतासे धर्म। प्रत्यक्षादि प्रमाण बाह्यदर्शी होते हैं। धर्म अन्तरंग वस्तु है। वह अन्तःकरणको दोषमुक्त और अन्तर्मुख करता है। आत्मा अथवा परमात्मामें स्थित करानेवाला परमधर्म है—योग अथवा भक्ति। परन्तु आत्मा-परमात्माके ऐक्यका बोध किसी धर्मका परिणाम नहीं है। धर्म-संस्कारके द्वारा केवल विकारकी निवृत्ति-मात्र होती है। ऐक्यका बोध तो चरम एवं परम प्रमाणका विषय है। ऐसी स्थितिमें यदि आप ऐन्द्रियक अथवा मानसिक संवेदनोंको प्रेरक मानकर धर्मका निर्णय करते हैं तो क्या आप सच्चे धर्मका निर्णय कर सकेंगे? क्या आपके इन्द्रिय और मन प्राकृत विकार एवं संकीर्ण संस्कारसे मुक्त हैं?

६. प्राकृत वस्तुओंके अनुकरण-कौशलके उत्कर्षसे कलाका विकास होता है, उनपर आधिपत्य प्राप्त करके उपयोगी बनानेकी प्रक्रियासे विज्ञानका। बाह्य पदार्थोंके परिवर्तन, प्रवर्तन अथवा संशोधनके लिए श्रमकी अपेक्षा होती है, परन्तु धर्म वह काम करता है जो इनमें किसीके द्वारा सम्पन्न नहीं होता। उसका काम है—अन्तःकरण शुद्धि द्वारा ज्ञाताके प्रकाशित होनेके मार्गमें जो प्रतिबन्ध हैं, उनको दूर करना। विशेष करके अन्तःकरणसे मलिन वासनाओंको निकाल देना और उसको एक विशेष आकारमें पहुँचाना धर्मका काम है। ऐसी स्थितिमें धर्मकी प्रेरणाके लिए अज्ञात ज्ञापक, शासनात्मक, वासना-प्रतिरोधी, बाह्य-क्रियात्मक स्रोतकी अपेक्षा है। फल मिलनेपर धर्मका पता चलनेसे केवल आगेके लिए अनुभव संग्रह किया जा सकता है या अमुक प्रकारकी वृत्तिसे जो उत्पन्न अदृष्ट या अपूर्व होगा, पता नहीं, वह कब हमारे काम आयेगा? वस्तुतः धर्म ऐसा होना चाहिए कि हम अपनी क्रिया और भावके द्वारा इसी समय, इसी स्थानमें, किसी वस्तुका ठीक-ठीक सदुपयोग कर सकें। जैसे, अकालके समय दुर्भिक्ष-पीड़ित स्थानमें क्षुधा-पीड़ित जनताको अपने हाथसे उठाकर हम कुछ अन्न-धन दे सकें। यदि धर्मका ऐसा रूप नहीं होगा तो वह किसी मनुष्यके द्वारा कैसे अनुष्ठित होगा? और यदि अनुष्ठित नहीं हो सकेगा तो धर्मका अर्थ ही क्या? इसको प्राचीन भाषामें यों कहा जा सकता है कि पुण्यकालमें यज्ञशालाके अन्दर यज्ञ

करानेवाले ऋत्विजको जब दक्षिणा दी जायगी, तब धर्म होगा। धर्मका रूप सर्वथा दृष्ट होना चाहिए, उससे अदृष्टकी उत्पत्ति हो या दृष्ट फल मिले। उसके लिए चाहिए—अधिकारी, श्रद्धा, विधान क्रिया, सम्पत्ति, सहायक और समग्रता आदि।

अब किस नियम, व्रत, दान, आदान, स्नान, कर्मको धर्म कहा जाय—यह बात वासनानुसार नहीं, शासनानुसार ही निश्चित करनी पड़ेगी। उस शासनका जो शाश्वत, सार्वभौम, मौलिक रूप है उसे 'शास्त्र' कहते हैं। वह देश, काल, वस्तु, क्रिया, पुरुष, अन्तःकरण आदिकी उत्पत्तिके पूर्वसे ही बीज रूपमें रहता है और रूप-व्याकृतिके साथ ही उसकी नाम-व्याकृति भी होती है। जो ईश्वर सृष्टिका निर्माता है पूर्व कल्पनानुसार, वही शास्त्रका भी निर्माता है। दोनोंका ही वह प्रकाशक-मात्र है। करण-निबन्धन-कर्तृत्व उसमें नहीं है। क्या आप किसी ऐसे शास्त्रको मान्यता देते हैं? उसके विज्ञानको समझनेका प्रयत्न करते हैं? यदि नहीं, तो आप अपनेको तत्त्वज्ञान और धर्मके मार्गसे कहीं विमुख तो नहीं कर रहे हैं? ज्ञानात्माके शुद्ध स्वरूपको संकेतित करनेवाली यह शास्त्र-प्रक्रिया आपकी धर्म-प्रेरणाका स्रोत क्यों नहीं बनती? जहाँ वासनानुसारिणी बुद्धि आपको बहिर्मुख बनाती है वहाँ शासनानुसारिणी बुद्धि अन्तर्मुख करेगी। धर्मानुष्ठान करना तो अलग, इस धर्मानुशासनको हृदयंगम करनेका प्रयत्न भी आपको धर्मात्मा होनेकी प्रेरणा देगा।

• • •

दरिद्रता और पवित्रता साधकके जीवनकी निधि हैं। साधकका जीवन पवित्र हो और उसमें सुख-सुविधाकी कामना, वासना न हो।

• •

स्नेह दीप

है वर्षा शरद् सन्धि सुन्दर, हरि जगा रही है वसुन्धरा।
जड़ जग, चेतन हो गया, वीजने, जगकर, जग कर दिया हरा।।
वन अमा समा निज श्याम रूपमें, राधाने, नवरास रचा।
निज पट, पहना राधावरको, मनमानी करती रही, नचा।।
वे दोनों करते रहे रास, फूलोंपर वन तितली भँवरा।
श्यामा अलिके बंसी रवपर, खिल उठी प्रकृति, जग है बौरा।।
रच मान, फुलाये गाल फिरे, फूलोंके मिस फूले फूले।
फिर मायामय, क्रीड़ामें रत, बचता, माया न उसे छू ले।।
आँखोंसे अन्तर्धान हुई, वह मूर्ति मोहनीकी झाँकी।
तब राधा-रजनीके उरमें, नव विरह व्यथा उपजी बाँकी।।
वह दीपक कोटों बार-बार, घर-घर, प्रियतम है खोज रहीं।
प्यासी आँखें, लखतीं मानो, रति हरसे माँग मनोज रही।।
यों स्नेहपूर्ण मणिदीप जला, सब खोज रहे 'मोहन' अपना।
जो सोतोंको था जगा गया, वह खोकर आज हुआ सपना।।
कर दिया, दिया वह अनुपम घर घर-घर अव दीप जलाते हैं।
नट, नाटक अपने खेल चुका, उसको हम भूल वुलाते हैं।।
जो अमर ज्योति वह जला गया, उसकी लौमें हम जला करें।
पद-अंक छोड़ जो गया पूत, उस पावन पथपर चला करें।।
उस स्नेह दीपसे ले प्रकाश, मानस-मानसमें दीप जगे।
जल षट्विकारके शलभ जायँ, अज्ञान राग, तमतोम भगे।।

— श्रीगुरुभक्त सिंह 'भक्त' —

सांख्यमत : एक विवेचन

पण्डितप्रवर श्रीरघुनाथ शर्मा
(अध्यक्षचर-वेदान्त विभाग, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय)

अच्छा, अब हम शिष्ट-सम्मत साङ्ख्यमतका विमर्श करते हैं। परम पुरुषार्थ निःश्रेयसका द्वार यही दर्शन है—ऐसा श्रुति-स्मृतिका सिद्धान्त है। श्वेताश्वतर ६.१३ में परमात्माको सांख्ययोगाधिगम्य कहा गया है और गर्भोपनिषद्के अनुसार गर्भमें जीवने प्रतिज्ञा की है कि 'जन्म होनेपर मैं सांख्य-योगका अभ्यास करूँगा। नारायण सांख्य-योगको धारण करते हैं (महा० शा० पर्व-३१६)। सांख्यके समान ज्ञान नहीं, योगके समान बल नहीं—दोनों अविनाशी, एक विषयक हैं (शा० पर्व० ३१६)। इसका अर्थ है कि सांख्याधिगमसे मोक्ष स्मृतिसम्मत सिद्धान्त है। श्वेताश्वतर (५.२) में ईश्वर-प्रदत्त ज्ञान कहकर कापिल-दर्शनका सम्मान किया गया है।

मत-समीक्षाके पूर्व 'सांख्य' पदकी व्युत्पत्तिपर विचार कीजिये। विज्ञानभिक्षुने महाभारतके वचनका उद्धरण देकर लिखा है कि प्रकृति और पुरुषके सम्यक् ज्ञानरूप संख्या और पचीस तत्त्वोंकी संख्याका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रका नाम 'सांख्य' है। सम्यक् ख्यानका नाम संख्या है। उसका अर्थ है—सम्यक् दर्शन। शान्ति पर्वके अध्याय ३०१ के ६२ और १०१ श्लोकमें सांख्यको ज्ञान-योग और परम ज्ञानकी संज्ञा दी हुई है। 'संख्या' 'क्विप्' प्रत्ययान्त शब्द है और सांख्य 'अण्' प्रत्ययान्त। अद्वैतवादी भी अपने दर्शनको 'सांख्य' कहते हैं। उनका अभिप्राय जीव और ईश्वरके अभेद-दर्शनसे है। सांख्यवादी प्रकृति और पुरुषके भेद-दर्शनको ही 'सांख्य' कहते हैं। सांख्यकारिकाकी व्याख्यामें श्रीवाचस्पति मिश्रने 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इस श्रुतिकी यही व्याख्या की है कि आत्माका प्रकृतिसे विवेक अर्थात् पृथक्करण ही सांख्य है। इसी प्रकार दूसरे दार्शनिक

भी अपने-अपने शास्त्र, सम्प्रदाय और बुद्धिके अनुसार अपने-अपने भेद-दर्शनोंको ही सम्यक् दर्शन मानते हैं। इस सम्बन्धमें किसीका मतभेद नहीं है कि सम्यक् दर्शनसे ही कैवल्यकी प्राप्ति होती है। अस्मितासे एकीभूत पुरुषको विवेकके द्वारा कैवल्य-दर्शन कराना दर्शनका अभिप्राय है। कैवल्य-दर्शन ही दर्शन है। 'कैवल्य' पदका अर्थ है—मोक्ष।

किसी-किसीके मतमें इस दर्शनको सांख्य नामसे व्यवहार करनेका कारण यह है कि इसमें तत्त्वोंकी संख्या की गयी है। सांख्यदर्शनसे पूर्व तत्त्वोंकी संख्याका नियम नहीं था—ऐसा उनका कहना है। भागवत स्कन्ध ३ अध्याय २४ में कपिलके अवतारका प्रयोजन बताते हुए वचन है—अजन्मा प्रभु तत्त्व-संख्यानके विज्ञापनके लिए प्रकट हुए। २५ वें अध्यायमें उन्हें 'तत्त्व-संख्याता' कहा गया है और प्रयोजन 'आत्म-प्रज्ञप्ति' बतलाया गया है। एक स्थानपर श्रीधर स्वामीने कपिलके लिए 'तत्त्वानां गणकः'—ऐसा लिखा है। अन्यत्र भी सांख्यज्ञानको प्रबोधन-कारक माना गया है। योगदर्शन और सांख्यदर्शनमें संख्याकी समता है। साख्यमें उत्पत्तिके क्रमसे विपरीत विषयोंका प्रविलापन किया जाता है—ज्ञानके द्वारा, ऐसा नीलकण्ठाचार्यका कहना है। साथ ही यह भी कहा गया है कि परं वैराग्यके बलसे जो अणिमादि योगैश्वर्योंका अतिक्रमण कर जाता है, वह मुक्त होता है, केवल तत्त्वज्ञान इसके लिए पर्याप्त नहीं है। योगका फल है—कर्म-बन्धनकी निवृत्ति। सांख्यका फल है—स्वरूपोपलब्धिरूप मोक्ष। इस दृष्टिसे सम्यक् दर्शनरूप सांख्यका साधन है—योग। योगकी अपेक्षा सांख्यकी ही प्रधानता है। शान्ति-पर्व ३०६ में योगियोंका बल ध्यान कहा गया है। नीलकण्ठने उसी प्रसंगमें कहा है कि भावना और कर्मका फल स्थायी नहीं होता अर्थात् ध्यानका फल अनित्य है। सम्यग्दर्शनरूप सांख्यका फल मोक्ष है और वह नित्य है। शान्तिपर्वके अध्याय ३०६ में सांख्यको 'परिसंख्यान दर्शन' कहा गया है। इस शब्दका नीलकण्ठने अर्थ किया है—परिवर्जन अर्थात् कार्यका पूर्व-पूर्व कारणमें प्रविलापन। उससे दर्शन अर्थात् साक्षात्कार होता है। कहीं-कहीं जो योगकी सांख्यके समान या अधिक महिमा प्राप्त होती है वह साधनके प्रति आदर-बुद्धि उत्पन्न करनेके लिए है। गीतामें ऐसे अनेक प्रसंग हैं जिनमें कर्मयोगको साधन और

सांख्यको फल बताया है। नीलकण्ठका कहना है कि कर्मयोग ज्ञाननिष्ठाका उपसर्जन है। कहीं-कहीं सांख्य शब्दका प्रयोग यौगिक होता है, जैसे वेदान्तमें; परन्तु सांख्यदर्शनमें तो वह योगरूढ ही है।

सांख्य-मतपर ऊहापोह करनेसे पूर्व भारतीय दर्शनोंके विकास और विभागपर प्रकाश डालना आवश्यक है; क्योंकि उन्हींमें एक सांख्यदर्शन है। क्रम-प्रदर्शनसे सांख्यमतकी समीक्षा और सांख्य, योग तथा अद्वैत मतोंकी अत्यन्त समीपता भी स्पष्ट हो जायगी।

भारतीय दर्शनोंके मुख्य-रूपसे दो विभाग हैं—एक तो जगत्को सोपादान मानते हैं अर्थात् यह जगत् अपने उपादान कारणसे उत्पन्न हुआ है, दूसरे इसको निरुपादान मानते हैं, वे हैं नैरात्म्यवादी माध्यमिक बौद्ध। वे सत्त्व अथवा असत्त्व—दोनोंको ही विचारसे असिद्ध कहते हैं और सबको शून्य मानते हैं। उनकी स्वीकृति यह है कि विश्व निरधिष्ठान ही है। उनके अतिरिक्त जितने दार्शनिक हैं वे भले ही, वैदिक हों या अवैदिक, जगत्का उपादान कारण स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि चाहे सत्त्व हो या न हो, निरधिष्ठानका भान ही सम्भव नहीं है।

जो दार्शनिक जगत्को सोपादान मानते हैं, उनमें भी दो विभाग हैं—आन्तर उपादानवादी और वाह्य उपादानवादी। अवैदिकोंमें विज्ञानवादी आन्तर उपादानको स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि आलय-विज्ञान और प्रवृत्ति-विज्ञानके रूपमें विज्ञान ही दो प्रकारका है और विषय उसीके आकार हैं। अर्थात् विषयोंका उपादान-विज्ञान है। वैदिकोंमें अद्वैतदर्शी, सांख्यवादी और योगी आन्तर उपादान ही स्वीकार करते हैं। अद्वैतियोंका कहना है कि यह जगत् चिदात्माका विवर्त और मायाका परिणाम है। दोनों ही रीतिसे उपादान आन्तर ही है; क्योंकि माया चिदाश्रित होनेसे आन्तर ही है। 'संक्षेपशारीरक'में निर्विभाग चित्को ही आश्रयत्व-विषयत्व-भागिनी कहा गया है।

सांख्य और योग प्रकृति-विकार महत्तत्वके अहंकार आदि क्रमसे परिणामको ही जगत् कहते हैं। महत्तत्व, अन्तःकरण, बुद्धि—ये सब शास्त्रीय शब्द आन्तर पदार्थके ही वाचक हैं। भिन्न-भिन्न प्रस्थानोंमें मन, मति, महान्, ब्रह्मा, बुद्धि, ईश्वर आदि इसीके नाम हैं। शान्तिपर्वके (३०२.१८-१९) इस वचनपर ध्यान दीजिये कि हिरण्यगर्भ, बुद्धि, महान्, विरञ्चि आदि

नाम एक ही विश्वात्माके हैं। महान् मन है और उसीसे सारी सृष्टि हुई है।

यह ध्यान देने योग्य है कि सांख्य भी दो प्रकारका है—१. योग प्रकृति, २. अद्वैत प्रकृति। दोनोंके प्रवर्तक 'कपिल' भी दो हैं। पहला निरीश्वर सांख्य है, दूसरा सेश्वर सांख्य है। देखिये, ब्र०सू० शांकरभाष्य (२.१.१०.१)। "कपिलका ज्ञानातिशय प्रदर्शित करनेवाली जो श्रुति उद्धृत की जाती है उसके बलपर श्रुति-विरुद्ध कापिल मतपर श्रद्धा उत्पन्न नहीं की सकती। कपिल यह एक श्रुति-सामान्य है अर्थात् सृष्टिधारामें अनेक कपिल होते रहते हैं वह किसी एक श्रुति-विरोधी कपिलका वाचक नहीं है; क्योंकि कपिलसे भी पहले श्रुति तो थी ही। एक दूसरे कपिलका भी वर्णन मिलता है, स्मृतियोंमें, जिन्होंने सगरके पुत्रोंको भस्म किया था और वासुदेवके नामसे प्रसिद्ध थे।"

वर्तमान समयमें कपिलके दो सूत्र-ग्रन्थ मिलते हैं। एक है—'तत्त्व समाससूत्र', जिसपर 'कापिल-सूत्रवृत्ति' आदि अनेक व्याख्याएँ उपलब्ध होती हैं। भावागणेशने अपने मंगलाचरणमें पंचशिखाचार्य-की व्याख्याका आलम्बन लेनेकी बात कही है। वे महर्षि कपिलके प्रशिष्य थे। 'तत्त्वसमाससूत्र' की 'सर्वोपकारिणी' टीकामें भी मूल-ग्रन्थको नारायणावतार कपिलकी रचना कहा गया है जबकि 'षडध्यायी' को वैश्वानरावतार कपिलकी रचना। यह 'षडध्यायी' ही दूसरे कपिलकी कृति है। विज्ञान-भिक्षुने वैश्वानर शब्दका अर्थ बदलकर नारायणमें लक्षणा की है, वह अनुचित है; क्योंकि मुख्यार्थका बाध न होनेपर लक्षणा अयुक्त है।

अस्तु, कौन-से सूत्र किस कपिलकी रचना हैं? इसमें हमारा कोई अभिनिवेश नहीं है। एक सेश्वर सांख्य है। भागवतमें माता देवहूतिको कपिलने जो सांख्योपदेश किया है वह वर्तमान सांख्यसे विलक्षण है, उसीसे सेश्वर सांख्य-की संगति है। पुराण, महाभारतादि इतिहास, मन्वादि धर्मशास्त्र और चरकादि आयुर्वेदमें सेश्वर सांख्यका समादर है। श्रीशंकरा-चार्यने भी श्रुति-विरुद्ध निरीश्वर सांख्य 'षडध्यायी'का ही खण्डन किया है। ईश्वरवादी अन्य कपिल-का उन्होंने प्रत्याख्यान नहीं किया है, प्रत्युत मौन ग्रहण कर लिया है। जिसका प्रतिषेध न किया जाय वह अनुमत होता है—इस न्यायके अनुसार आचार्यका भी उसमें पक्ष-पात प्रतीत होता है। वासुदेव कपिल सांख्याचार्य नहीं है—ऐसा

कहना ठीक नहीं है; क्योंकि भागवतमें कपिलको ही तत्त्व-संख्याता कहा गया है। और उसमें प्रपंचका अथवा जीवोंका नियन्तृत्व सम्भव नहीं है। आभासके द्वारा नियन्त्रण करनेपर

महान् अध्यापक

पण्डित श्रीराजाराम शास्त्री काशीमें श्रीदामोदर शास्त्रीजीसे विद्याध्यान करते थे। वृद्ध दामोदरजीने देखा कि हमारे युवा शिष्य राजारामकी प्रतिभा क्षण-क्षण बढ़ती जा रही है और अब इसके यथार्थ विकास एवं पूर्णताके लिए किसी अन्य महान् विद्वान्की आवश्यकता है। वे स्वयं राजारामको लेकर काशीके सार्वभौम एवं सर्वातिशायी विद्वान् श्रीकाशीनाथजीके पास गये। उनके चरणोंमें शिष्यको अर्पण करके यह श्लोक पढ़ा—

यः सिक्त्वा श्रमवारिभिः कुसुमयन् नानाविधैर्हेतुभिः
सिद्धान्तैः फलितं विधाय बहुलैर्विद्वद्द्विजानन्ददम्।
विद्याकल्पतरुं चिरं स्थिरतरं कुर्याद्भवन्मूलकं
रत्नं नूत्नमिदं ददामि भवते यत्नादयं पाल्यताम्॥

आपने एक विद्याकल्पतरुकी स्थापना की है। आप ही उसके मूल हैं। यह बालक अपने श्रम-जलसे उसे सींचेगा। अनेक उक्ति-युक्तियोंसे पल्लवित, पुष्पित एवं वृद्धिगत करेगा। सिद्धान्तरूप फलसे संयुक्त करेगा। उससे अनेक विद्वान् रूप पक्षी आनन्दित होंगे। यह बालक नहीं, रत्न है। आपके विद्याकल्पतरुको अत्यन्त चिरस्थायी कर देगा। आप यत्नपूर्वक इसका संरक्षण, संवर्द्धन कीजिये।

यह बालक ही काशीमें श्रीराजाराम शास्त्रीके नामसे प्रसिद्ध हुआ, जिसके शिष्य थे श्रीबालशास्त्री, जिनकी शिष्य-परम्परामें बड़े-बड़े विद्वान् हुए हैं, जिसकी शाखा-प्रशाखा अब भी देशमें फैली हुई है।

(म० श्री)

वस्तुतः योगके लिए सेश्वर सांख्य शब्दका प्रयोग गौण है। क्योंकि योगाभिमत ईश्वर असंग है तो आभास ही तत्त्व हो जायगा। शुद्ध चेतन्य छब्बीसवाँ तत्त्व है। महाभारतके शान्तिपर्व अध्याय

३१८ में इस विषयका स्पष्ट प्रतिपादन मिलता है।

निरीश्वर सांख्यमें, जो कि योगिवत्-प्रकृति है, प्रकृति जड़, परमार्थ सत्य एवं त्रिगुणात्मिका है।' वह चेतनसे अधिष्ठित नहीं है। पुरुषको भोग और मोक्ष देनेके लिए वह स्वयं प्रवृत्त होती है। अचेतनोंमें भी दूसरोंके लिए प्रवृत्ति देखनेमें आती है। दूध बछड़ेके संवर्द्धनके लिए स्वयं बढ़ता और निकलता है। नदी आदिके अचेतन जल बिना चेतनसे अधिष्ठित हुए ही दूसरोंके उपकारके लिए प्रवृत्त होते हैं। इसी सांख्यका खण्डन 'ईक्षत्यधिकरण' के भाष्यमें शंकराचार्यने किया है। सेश्वर सांख्यकी प्रवृत्तिका यही कारण है कि वे चेतनके विना अचेतनकी प्रवृत्तिको सम्भव नहीं मानते। यही बात अद्वैत मतानुसार ठीक है। 'सांख्यकारिका'के भाष्यमें श्रीगौडपादाचार्यने 'षष्टि-तन्त्र' का एक वाक्य उद्धृत किया है—**'पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते'**। उसका अर्थ है—पुरुष अर्थात् भगवान्‌के द्वारा अधिष्ठित (स्वाभास द्वारा प्रवर्तित) होकर ही प्रधान परिणत होता है। जिसमें चितिच्छाया अर्थात् आभासका आधान हो, उसे ही प्रधान कहते हैं। ऐसी प्रकृति ही तो ईश्वर है। इस प्रकार अद्वैतवादियोंके ईश्वर और सांख्यवादियोंकी प्रकृतिमें केवल भाषाका भेद है, वस्तु एक ही है। बात यह है कि अद्वैती भी चिदाभास-समन्वित त्रिगुणात्मिका मायाको ही ईश्वर कहते हैं। **'जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवति'**। इसी प्रकार सांख्यवादी साभास प्रकृतिको ही ईश्वर कहते हैं। महाभारत शान्तिपर्व (३१६.४१) में अव्यक्त, क्षेत्र, सत्त्व, ईश्वर, अनीश्वर, अतत्त्व, तत्त्व—ये सब एक ही वस्तुके नाम हैं—ऐसा कहा गया है। नीलकण्ठने चित्-प्रतिबिम्बगर्भ प्रकृतिको ही ईश्वर कहा है। उसे शुद्ध ब्रह्मज्ञानसे बाध्य भी बताया है। इसमें आभास या ईश्वर नामको बाध्य कहा गया है अथवा विशेषण धर्मका विशिष्टपर आरोप किया गया है। सांख्यमतमें प्रकृति सत्य है इसलिए उसके बाधका प्रश्न नहीं उठता। अद्वैतके समान ही सांख्यसिद्धान्तमें भी प्रकृति ईश्वर है, महत्तत्व हिरण्यगर्भ है, महाभूत विराट् है। इस विषयका वर्णन **'सांख्यतत्त्वालोक'** में विस्तारसे है। वहीं यह वचन भी है कि विराट् पुरुषका अन्तःकरण ही जगदात्मक है। यदि यह मान लिया जाय कि जगत्‌की उत्पत्ति पुरुषकी इच्छासे हुई है, तब भी

तो जगत् अभिमानात्मक ही होगा। इच्छा अन्तःकरणकी वृत्ति है—यह पहले ही कह चुके हैं।'

अनुगीतामें भी महत्तत्व, बुद्धि, विष्णु, शम्भू, जिष्णु, प्रज्ञा, उपलब्धि, आत्मा आदि शब्दोंको पर्यायवाची ही कहा गया है। सर्वत्र सत्त्व-गुणमें चिदाभासका होना सम्भव है। प्रकृतिके पर्याय 'प्रधान' शब्दका अर्थ ही यह है कि वह चितिच्छायाके आधान योग्य है। भागवतके तृतीय स्कन्धमें भी पुरुषके द्वारा प्रकृतिमें वीर्याधानको चिदाभासका ही आधान कहा है। जिस समय गुण-साम्य रहता है, उस समय अप्रकाश-रूप रजोगुण एवं तमोगुणसे प्रकाशात्मक सत्त्व-गुण कलुषित रहता है, अतः चिदाभासकी उत्पत्ति नहीं होती। जब काल-शक्तिसे गुण, क्षोभ होता है, तब प्रकृतिमें सत्त्वका उत्कर्ष होता है। उसी समय चिच्छाया, (चिदाभास) होती है और महत्तत्वका जन्म होता है। चिदाभासके कारण ही महदादि तेईस गणको भागवतमें देवता कहा है।

अद्वैतियोंकी माया सत्त्वासत्त्व-रूपसे अनिर्वचनीय है। सांख्योंकी प्रकृति और उसके कार्य सत्त्वरूपसे निर्वचनीय हैं। सांख्यके समान-तन्त्र योगभाष्यमें प्रधानको सत्ता, असत्ता, सत्, असत्से रहित तथा निरसत् अव्यक्त कहा गया है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वहाँ प्रधानको असत् कहा गया है। निरसत् कहनेसे ही परिशेष-न्यायसे सत्त्वकी उपलब्धि होती है। प्रधानमें पारमार्थिक सत्त्व नहीं है; क्योंकि वह प्रतिक्षण महत्तत्वादिके रूपमें परिणत होता रहता है और प्रलयमें सत्त्वकी उपलब्धि भी नहीं होती। प्रधानमें पारमार्थिक असत्त्व भी नहीं है; क्योंकि वह नित्य है और अर्थ-क्रियाकारी है। सत्त्व अर्थात् पुरुषार्थ क्रियाकी योग्यता। असत्त्व माने तुच्छता। ऐसी स्थितिमें उसके विकार भी सत् या असत् कैसे हो सकते हैं? उसमें सत् और असत् दोनों ही नहीं हैं। निरसत् कहने-का अभिप्राय केवल इतना ही है कि वह तुच्छ कार्यसे व्यावृत है। ऐसी स्थितिमें सांख्य और योगका भेद समझना थोड़ा कठिन है। पंचदशीमें कहा गया है कि 'यदि जीव भेद, जगत्की सत्यता और ईश्वरकी अन्यता—ये तीन बात सांख्य-योगवादी छोड़ दें तो अद्वैत वेदान्तके साथ उनकी संगति लग जाय।' (चित्रदीप : २८)

यह तो आपको ज्ञात ही है कि अद्वैती भी गीता आदिमें प्रयुक्त सांख्य पदका अर्थ प्रकरणानुरूप

योगवृत्तिसे अपने पक्षमें जोड़ लेते हैं। महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ३१८ में शुद्ध चेतनकी गणना करके छब्बीस तत्त्व बताये गये हैं। इस प्रकार सांख्य, योग और अद्वैत दर्शनोंकी अन्तमें निष्ठाका ऐक्य ही है—ऐसा सूचित किया गया है। वहाँ स्पष्ट है कि छब्बीसवेंमें पच्चीस स्थित हैं, अद्वैत मतके अनुसार अध्यस्त, सांख्य मतकें अनुसार आश्रित। तीनों दर्शन परस्पर उपयोगी, सम्बद्ध और फलतः एक हैं। अद्वैत-निष्ठ याज्ञवल्क्यने भी सूर्यसे सांख्य-योगका अध्ययन किया था (शान्तिपर्व ३१८)।

जो योगी असंग ईश्वरसे अधिष्ठित प्रकृतिको कर्ता बताते हैं वे नैयायिकादिके मतसे प्रभावित भ्रान्त एवं अनौपनिषद हैं। असंगका अधिष्ठातृत्व अयुक्त है। अद्वैत मतका अनुसरण करके चिदाभासवत् प्रकृतिको कर्ता माननेवाले सांख्य सम्यक्‌दर्शी एवं औपनिषद हैं। योगी और सांख्य-वादी ईश्वरका और गुरु-रूपसे कपिलका वन्दन करते हैं। दुर्गा-सप्तशतीमें भी महामाया और प्रकृति—दोनोंको साभास-रूपमें ही दुर्गा कहा गया है। प्रकृतिकी सत्यताके सम्बन्धमें अद्वैती और सांख्यवादीका मतभेद है। इसीसे मोक्ष-मार्गमें भी भेद पड़ता है। प्रकृतिको सत्य स्वीकार करनेके कारण सांख्य-योग मतमें जाग्रत्-दशा और स्वप्नदशामें नीर-क्षीरके समान पुरुष मनोवृत्तियोंके साथ सारूप्य प्राप्त कर लेता है। इसलिए प्रकृति-पुरुषकी अविवेक-ग्रन्थिको भेदन करनेवाली विवेक-ख्यातिका उदय नहीं हो सकता—ऐसा मान-कर वे कहते हैं कि असंग पुरुषका दर्शन करनेके योगके द्वारा चित्त-वृत्तियोंका निरोध करना आवश्यक है। योगदर्शनके प्रथम तीन एवं चार सूत्रोंका यही तात्पर्य है।

अद्वैत-वेदान्ती माया और उसके कार्यको मिथ्या कहते हैं। इसलिए उनके मतमें यह मिथ्या भूत-प्रपंच रज्जुसर्पके समान आत्मामें अविद्यासे अध्यस्त हैं। ऐसी अवस्थामें विचार-पूर्वक अधिष्ठानका साक्षात्कार होनेसे ही सर्पादिवत् प्रपंचकी निवृत्ति मान्य है। अतः उनका श्रवण-मननरूप विचार-मार्गमें आदर है। निदि-ध्यासन-रूप योग विचारानुगृहीत होनेपर ही आत्म-साक्षात्कारका हेतु है अतः उनके मतमें वृत्ति-निरोध नहीं, प्रत्युत वृत्त्यात्मक विचार मुक्तिका हेतु है। महा-भारतके वसिष्ठ-करालजनक-संवादमें सांख्य और अद्वैतकी एकता बतायी गयी है। गीतामें भी सांख्यमतका

प्रचुर वर्णन है। श्रीशंकराचार्यने उपक्रम-उपसंहारके अनुरोधसे उसकी अद्वैत-परक व्याख्या की है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष-पर पहुँचते हैं कि सांख्य-शास्त्र आन्तर उपादानवादी है। बाह्य उपादान-वादियोंमें सौत्रान्तिक एवं वैभाषिक अवैदिक हैं। नैयायिक, वैशेषिक एवं मीमांसक वैदिक हैं। अब सांख्यमतकी विशेषतापर विचार करते है।

'सांख्य शास्त्र 'षष्टितन्त्र'के नामसे भी प्रसिद्ध हैं' (सां० का० ७२)। इसको षष्टितन्त्र कहनेका कारण है, साठ पदार्थोंकी स्वीकृति। उनमें दस पदार्थ मौलिक हैं—१. बारम्बार सृष्टिप्रलय होनेपर भी प्रकृतिका एक ही रहना, २. उससे स्वर्ग और अपवर्ग-रूप प्रयोजनकी सिद्धि, ३. पुरुषके लिए प्रवृत्त होना, ४. असंग चेतन पुरुषका प्रकृति और उसके कार्योंसे अलग होना, ५. पुरुषका अकर्ता होना, ६. उसका अनेक होना, ७. प्रकृति और पुरुष—दोनोंका सत्य होना, ८. दोनोंमें संयोग होना, ९. दोनोंका वियोग होना और १०. स्थूल-सूक्ष्म भूतोंकी स्थिति होना।

इनके अतिरिक्त पाँच विपर्यय हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश। ग्यारह इन्द्रियोंका अपने-अपने कृत्यमें असमर्थ होना ग्यारह प्रकारकी असमर्थता है, जैसे वधिरता, कुष्ठ, अन्धता आदि। नौ तुष्टि हैं और आठ सिद्धि। इन तुष्टि और सिद्धियोंके सत्रह विपर्यय हैं।

यह शास्त्र चिकित्सा-शास्त्रके समान चतुर्व्यूह है। जैसे रोग, रोगनिदान, रोग-निवृत्तिके उपाय और रोग-निवृत्ति यह आयुर्वेदका संक्षेप है। वैसे, हेय (दुःख), उसका निदान (चित्तादि), निवृत्तिके उपाय (विवेक-साक्षात्कार) और दुःख-निवृत्ति; वस यही इस शास्त्रके विषय हैं। चिकित्सा-शास्त्र चरकादिमें सांख्ययोगकी प्रक्रियाका ही समादर है। योग और आयुर्वेद—दोनोंके कर्ता पतञ्जलि हैं। रोगका सम्बन्ध प्राकृत-भूमिके साथ ही है, पुरुषके साथ नहीं, इस कारण चरकके टीकाकार चक्रदत्त कहते हैं कि उदासीन एवं अत्यन्त सूक्ष्म पुरुषके स्वरूपका निरूपण इस प्रसंगमें उपयोगी नहीं है। वहाँ ज्ञानोत्पत्तिका क्रम भी सांख्योक्त ही स्वीकार किया गया है। यह भी एक साम्य है कि आयुर्वेद और सांख्य—दोनोंमें ही ईश्वरकी पराधीनता नहीं मानी गयी। सब अपने कर्मका ही फल भोगते हैं।

श्रीमद्भागवतमें तत्त्वोंकी संख्याका भिन्न-भिन्न रूपसे निरूपण

हुआ है। वहाँ अट्ठाईस, छब्बीस, पचीस, सत्रह, सोलह, तेरह, ग्यारह, नौ, सात, छः, चार—अनेक संख्याएँ गिनायी हैं। भगवान्‌का कहना है कि यह सब गणना न्यायोचित और युक्ति-युक्त है। वक्ता अलग-अलग हैं और कार्यमें कारणका तथा कारणमें कार्यका अनुप्रवेश मानकर विवक्षित अर्थका प्रतिपादन किया गया है। विद्वान् जैसे कहें—सब ठीक है।

इस प्रकार संख्याके नानात्वमें भी कोई विरोध नहीं है। सांख्य-मतमें दिक् और कालको तत्त्व नहीं मानते। इसलिए उनकी संख्या बढ़ायी नहीं जा सकती। वे विकल्प-वृत्तिसे ही दिक् और कालका व्यवहार मानते हैं। यही बात 'सांख्यतत्त्वालोक'में कही गयी है। उनका कहना है कि दिक्कालके अवास्तविक होनेपर भी विकल्पको ही सिद्धवत् मानकर व्यवहार किया जाता है। सांख्य सत् कार्यवादी हैं। उनके मतमें जन्म और मृत्यु, सृष्टि और प्रलय केवल आविर्भाव-तिरोभावमात्र हैं। भगवान् श्रीकृष्णने **'नासतो विद्यते भावः'** इस श्लोकमें बड़े सम्मानके साथ उनका स्मरण किया है।

ख्यातियोंमें इन्हें सदसत् ख्याति स्वीकार है। इनका सूत्र ही है—'सदसत् ख्यातिर्बाधाबाधात्' (५.५६)। श्री विज्ञान-भिक्षुने इसकी व्याख्या की है कि किसी भी वस्तुका स्वरूपसे बाध नहीं होता; क्योंकि सब नित्य हैं। अतः सब सत् हैं। सभी वस्तुओंका संसर्गतः बाध है; क्योंकि चैतन्यसे किसीका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए सब सम्बन्ध असत् हैं। इसीको सदसत् ख्याति कहते हैं।

सांख्योंके मतमें केवल तीन ही प्रमाण हैं—दृष्ट, अनुमान और आप्त वचन। दूसरे प्रमाणोंका यथाकथंचित् इन्हींमें अन्तर्भाव कर लिया जाता है। इस मतमें तीन प्रकारके दुःख, तीन प्रकारके प्रमाण, तीन प्रकारके तत्त्व निरूपणकी ऐसी ही प्रणाली है।

महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ३१८ में सांख्य-शास्त्रके बीस आचार्योंका नाम दिया हुआ है। उनमें-से कुछके ही ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। यह अति प्राचीन शास्त्र है—इसमें कुछ ही परिष्कार कर देनेपर अद्वैत-शास्त्रसे एकता हो जाती है।

अब संक्षेपमें सांख्यमतकी प्रक्रियाका वर्णन करते हैं। इस छोटेसे निबन्धमें उपपत्तियोंका विस्तार करना शक्य नहीं है। अब पचीस तत्त्वोंका विवरण देखिये। सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणोंकी साम्यावस्थाका नाम प्रकृति है। वह प्रलय ही है। उस अवस्थामें भी गुण प्रतिक्षण

परिणत होते रहते हैं जैसे, गरम भाड़में तिल। उनकी ऐसी कोई स्थिति नहीं होती जिसमें परिणाम न होता हो। परन्तु उस समयका परिणाम तत्तदाकारसे ही होता है अर्थात् केवल सजातीय।

सत्त्व, रज, तम—ये तीनों गुण, प्रकाश, प्रवृत्ति और स्थिति-स्वभाववाले हैं। प्रधान, अव्यक्त, अव्याकृत, माया, तम, आदि नाम प्रकृतिके ही हैं। सेश्वर-सांख्यमें प्रकृति चिदाभास-समन्वित आलोचनात्मक ज्ञानवती है। उसीमें सृष्टिकी इच्छा भी है। निरीश्वर-सांख्यमें प्रकृति जड़ है—अचेतन है।

जब भगवान्‌की सृष्टि-विषयक इच्छासे, काल-शक्तिसे अथवा जीवोंके अदृष्टवश गुणोंमें क्षोभ होता है, तव सत्त्वके उत्कर्षसे, प्रकृतिसे महत्तत्वकी उत्पत्ति होती है। इसीके अनेक नाम हैं—सत्त्व, वुद्धि, ब्रह्मा आदि। उसको महान् कहनेका कारण यह है कि वह कार्य होनेपर भी सर्वशक्तियुक्त और समष्टिरूप है। उसको वुद्धि-तत्त्व इसलिए कहते हैं कि वह कर्तव्यविषयक अध्यवसाय-स्वरूपा है। धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य—ये उसके सात्त्विकरूप हैं। अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य—ये उसके तामसरूप हैं। अहंकार अभिमानरूप है। 'मैंने इस वस्तुकी उचित आलोचना की है। मैं इसमें समर्थ हूँ। ये विषय मेरे लिए हैं। इसमें मुझसे वढ़कर कोई अधिकारी नहीं है।' यह अभिमान महत्तत्वसे उत्पन्न होता है।

अहंकारसे दो प्रकारकी सृष्टि होती है। सात्त्विक अहंकारसे पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और एक मन। यह ग्यारहका एक गण है। महत्तत्वके रूपमें विकृत सत्त्वका ही कार्य अहंकार है, इसलिए सात्त्विक अहंकारको वैकृत भी कहते हैं। तामस अहंकारसे दूसरा गण होता है—वह है, शब्द-स्पर्शादिके रूपमें तन्मात्र। तैजस अर्थात् राजस अहंकार दोनों गणोंकी उत्पत्तिमें हेतु है। सत्त्व और तम अचल हैं। उनको विचलित करनेके कारण रज दोनोंका हेतु होता है। तेज और रज पर्यायवाची शब्द हैं। यह निशानार्थक 'तिज्' धातुसे बना तेज शब्द है। यह सत्त्व, तमको अपना कार्य करनेमें तीक्ष्ण करता है।

ज्ञानेन्द्रियाँ केवल वस्तुओंको दिखाती हैं। कर्मेन्द्रियाँ वोलने आदि क्रियामें करण हैं। मन दोनोंका अधिष्ठाता होनेसे कर्मात्मक और ज्ञानात्मक दोनों है। उससे अधिष्ठित होकर ही इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयमें प्रवृत्त होती हैं। मनको इन्द्रिय इसलिए

कहते हैं कि वह भी सात्त्विक अहंकारसे इन्द्रियोंके समान ही प्रकट हुआ है। मनकी वृत्ति है—संकल्प। इन्द्रियाँ जब किसी सम्मुख वस्तुको देखती हैं तब मन 'यह ऐसी है. यह ऐसी नहीं है'—ऐसी कल्पना करता है अर्थात् विशेष्य-विशेषण भावसे उनकी विवेचना करता है। बुद्धिकी वृत्ति अध्यवसाय (निश्चय) है। अहंकारकी अभिमान वृत्ति है। महत्, अहंकार और मन इनकी सामान्य वृत्ति जीवनरूप प्राणादि पाँच वायु हैं। **'एतस्मात् जायते प्राणः'** इस श्रुतिमें प्राण और वायुका पृथक्-पृथक् उल्लेख है। इसलिए प्राण वायुके परिणाम नहीं हैं। बुद्धि आदि तीन, संहत-पक्षियोंके पंजर-चालनके समान रजोगुणके द्वारा शरीरका संचालन करते हैं। उस चालन-व्यापारको ही प्राण कहते हैं। वायु-तुल्य अथवा वायुसे अधिष्ठित होनेके कारण इसका एक नाम 'वायु' भी है।

महत्, अहंकार और मन तथा बाह्य इन्द्रियाँ कभी-कभी एक-साथ भी काम करती हैं जैसे, घोर अन्धकारमें व्याघ्र आदिका दर्शन होने पर। कभी मन्द प्रकाशमें क्रमसे भी। अनागत भोगापवर्ग-रूप पुरुषार्थ ही करणोंका प्रवर्तक है—पुरुष नहीं। वह तो असंग है। विशेष-विशेष करण पुरुषार्थको प्रकाशित करके पुरुषकी सर्वाध्यक्ष-भूता बुद्धिमें डाल देते हैं। बुद्धि पुरुषकी सन्निधिमें उसकी छाया प्राप्त करके वैसी ही हो जाती है और सब विषयोंका उपभोग देती है। सुख-दुःखका अनुभव ही भोग है। वह बुद्धि-धर्म है। चिदाभासके कारण बुद्धि पुरुष-सी जान पड़ती है। यह बुद्धि ही प्रकृति और पुरुषका विवेक भी करती है जिससे अपवर्ग होता है।

पंचतन्मात्रसे पंचभूत और पंचभूतोंसे भौतिक स्थावर-जंगम। यह सर्ग-क्रम है। इसके विपरीत कार्यको कारणमें लय करते चलो तो लय-क्रम हो गया। प्रलय भी निरीश्वर-मतमें जीवोंके अदृष्ट-वश और सेश्वर-मतमें ईश्वरकी संहार-इच्छासे होता है।

अच्छा, अब इसका सार-सार सुनिये। भगवान् हिरण्यगर्भ समस्त करणात्मा महत्तत्त्व हैं। वे सर्व-विद् और सर्वकर्ता हैं। उनकी योग-निद्रारूप समाधिमें सब करणों-का लय हो जाता है और जागरण-में उनकी प्रवृत्ति होती है। भग-वान् विराट् सर्वस्थूल कार्याभिमानी हैं। उनकी योग-निद्रारूप समाधिमें जगत्का लय और व्युत्थानमें सर्ग होता है। यह सम्पूर्ण व्याकृत जगत् कार्य-कारणात्मक है। और वह

इसी प्रकार सतत, बेरोकटोक, 'रथचक्रवत्' चलता रहता है। इस स्वाभाविक प्रवर्तमान सर्ग-विसर्गको विवेक-ख्यातिके द्वारा निरुद्ध करना चाहिए। "परमात्माके ज्ञानसे ही मृत्युका अतिक्रमण होता है, दूसरा मार्ग नहीं है।" इस श्रुतिके अनुसार तत्त्व-संख्यान द्वारा विवेक-ख्यातिकी प्राप्तिके लिए सांख्यशास्त्र और उससे मिलता-जुलता योगशास्त्र प्रवृत्त हुआ है।

●

अतीन्द्रिय ज्ञान

रूसी और अमरीकी वैज्ञानिक अब इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि अतीन्द्रिय ज्ञान होता है और अंतरिक्ष-यात्रियोंको संदेश भेजनेके लिए मानवकी इस शक्तिका उपयोग करना होगा। रूस और अमरीकामें अबतक जो परीक्षण किये गये उनसे पता चलता है कि मनुष्य अपने विचारोंको दूर-दूरतक प्रेषित कर सकता है।

भारतीय ऋषियोंने हजारों साल पूर्व इस क्षेत्रमें जो उपलब्धियाँ प्राप्त कीं, उनके आधारपर यह माननेमें संदेहकी कोई गुञ्जाइश नहीं कि दूरस्थ ग्रहोंतक संदेश भेजना और उससे प्राप्त करना सम्भव है। योगमें इस अतीन्द्रिय ज्ञानकी प्राप्तिके तरीकोंका विशद रूपसे वर्णन है, यह शक्ति पशु और प्राणी दोनोंमें है। मनुष्य इसका विकास कर सकता है।

रूसी और अमरीकी वैज्ञानिकोंने योगमें वर्णित इस महान् उपलब्धिके बारेमें खोज की और फिर परीक्षण किये। परीक्षण द्वारा इसकी प्रामाणिकता सिद्ध होनेके बाद अब वे इसे बढ़ाने एवं अपनानेमें व्यस्त हैं।

योगमें कहा गया है कि श्रद्धालुको ही योगकी प्राप्ति होती है। भारतीय शायद अपनी श्रद्धा खो बैठे हैं, परिणामस्वरूप यह ज्ञान भी उनके लिए दुर्लभ हो गया है।

● ●

(१)

एक था किसान। वह कुँआ खोद रहा था। उसके मनमें आता था कि मैं शास्त्र-प्रमाणके अनुसार धर्मका काम इष्टापूर्त कर रहा हूँ। देवता, पितर मेरी प्रशंसा कर रहे होंगे। परन्तु गाँवमें उसकी निन्दा होने लगी। पञ्चपरमेश्वर शिष्ट पुरुष उसके पास आये और बोले—'अरे, भैया! यह क्या कर रहा है? यह सँकरा मार्ग है। प्रातः-सायं इससे गौएँ आती-जाती हैं। कभी-कभी विवाह-मेलामें सैकड़ों लोग यहाँसे निकलते हैं। कोई गिर जायगा कुएँमें, मर जायगा, तुम्हें पाप लगेगा।' किसान अपने आग्रह-पर डट गया। उसने कहा—'चाहे कुछ हो जाये, लोग गिरें चाहे मरें। मेरा फावड़ा जहाँ लग गया, वहीं कुँआ

शिष्ट-सम्मत धर्म

खुदेगा। मैं कोई ऐसा-वैसा हूँ कि अपना निश्चय वदल दूँ।' वह फिर कुँआ खोदनेमें लग गया।

अब प्रश्न यह है कि वह किसान क्या धर्मका काम कर रहा है? उसका कर्म विहित होनेसे ठीक है, परन्तु उसका दुर्भाव, दुरभिमान और दुराग्रह धर्मके विपरीत हैं। कोई भी काम केवल विहित होनेसे ही धर्म नहीं हो जाता। उसका फल भी विहित है या नहीं—यह देखना पड़ता है। जो विधान अभ्युदय एवं निःश्रेयसका हेतु होता है, वही धर्म होता है। इसीसे श्येन याग विहित होनेपर भी अधर्म ही है; क्योंकि उसका फल द्वेषमूलक शत्रुमारण है। उस किसानका कुँआ खोदना शास्त्रोक्त होनेपर भी परिणाममें मनुष्यों और पशुओंकी मृत्युका हेतु था और उसके मूलमें दुरभिमान और दुराग्रह था। इसलिए वह धर्म नहीं था। महाभारतमें मानयज्ञ, मान-मौन आदिको अधर्म और अशुभ फलदायक बताया है। मनुस्मृतिमें भाव-दुष्ट-धर्मको विपरीत

फलक कहा गया है। वहाँ यह प्रसंग भी आता है कि जिस धर्मका फल दुःख हो और जो लोक-निन्दित हो, उसका आचरण भी नहीं करना चाहिए। चाहे कितना भी विद्वान् हो, परन्तु वह यदि राग-द्वेष-वश किसी धर्मका आचरण करता हो तो अनुकरणीय नहीं है। शिष्ट पुरुष क्रियमाण दशामें ही जिस कर्मकी प्रशंसा करते हैं, उसका नाम धर्म है— ऐसा '**आपस्तंब धर्म सूत्र**' का कहना है।

(२)

एक थे सज्जन। विद्वान् थे। धर्ममें निष्ठा थी। प्रतिदिन परिश्रम करके अपने जीवन-निर्वाहके लिए कुछ उपार्जन कर लेते थे। दैववश एक बार ऐसा प्रसंग उपस्थित हुआ कि छः समयतक उन्हें भोजनके लिए कुछ नहीं मिला। क्षुधाके कारण प्राण तड़फड़ाने लगे। स्नान-संध्याकी शक्ति भी क्षीण होने लगी। श्रम करके भोजन-सामग्री प्राप्त करनेमें भी कठिनताका अनुभव होने लगा। उन्होंने देखा कि सामने एक सेठका बाग है। विविध प्रकारके फल लगे हुए हैं। वहाँ ढूँढ़नेपर भी कोई रक्षक नहीं मिला। उन्होंने निःसंकोच भर-पेट फल खाये। जब वहाँसे जाने लगे तो माली आ गया और वे पकड़े गये। सेठके सामने उपस्थित किये गये। उसने पूछा—'आप शिष्ट पुरुष ज्ञात होते हैं, यह धर्म-विरुद्ध आचरण आपने क्यों किया ?' शिष्ट पुरुषने कहा—'मेरा यह आचरण धर्म-विरुद्ध नहीं है। मनुस्मृतिमें कहा गया है—

ततस्तु सप्तमे भक्ते भक्तानि षडनश्नता।
अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः॥

(अध्याय ११।१५)

छः समय तक भोजन न मिलनेपर सातवें समय इतना भोजन छीनकर भी खाया जा सकता है, जिसका संग्रह कलके लिए न किया जाय।

सेठ सन्तुष्ट हो गये और उन सज्जनको मुक्त कर दिया।

• • •

श्री श्री माँ आनन्दमयी

● श्री 'आञ्जनेय' ब्रह्मचारी

माँके अपने द्वारा अभिनीत जीवनक्रमके विकासमें हमें निम्नलिखित सत्योंका प्रत्यक्ष होता है। इनकी स्थिति, गति महायोगसे मिलती-जुलती है। माँमें ये सब अनुभूतियाँ अनायास स्वयं ही प्रकट हुई हैं। आपकी प्रणालीमें क्रमशः चित्तसमाधान, भावसमाधान, व्यक्तसमाधान, पूर्णसमाधान और निर्विकल्पसमाधान पाये जाते हैं। इनका विवरण इस प्रकार है।

चित्तसमाधान

अन्तःकरणकी व्याकुलता ही भगवत्प्राप्तिमें प्रधान सहायक है। यदि भगवान्को प्राप्त करना हो तो दिनपर दिन, मासपर मास और वर्षपर वर्ष सदाके लिए सभी अवस्थाओंमें सोते-जागते, उठते-बैठते सब कर्मोंके आरम्भ और अन्तमें उनके लिए एक प्रकारकी वेदना जगाये रखना चाहिए। संसारके सुख-सम्पत्ति, आराम और आडम्बर किसीसे भी उन्हें भुलाना नहीं चाहिए। संसारकी वासनारूप जल सूख जाय और ज्ञानरूप अग्नि लगते ही वह स्वाहा हो जाय। इसीको भावशुद्धि भी कहते हैं।

भावसमाधान

यह प्रथम समाधानकी प्रगतिशीलताका फल है। इसमें साधक इतना तद्भावभावित रहता है कि उसे बाहरका चेत नहीं रहता। वह भाव ही बाहर भी प्रवाहित होने लगता है।

व्यक्तसमाधान

इसमें भीतर-बाहर ज्ञानाग्नि प्रज्वलित रहती है। तब साधक एक अखण्ड आत्मामें ही निमग्न रहता है। परन्तु इस स्थितिमें भी रूप और अद्वैतका भाव रहता है।

पूर्णसमाधान

इस भूमिकामें हर प्रकारकी द्वैतगन्ध जल जाती है, क्योंकि इस समय सबका अतिक्रम करके साधक एक अद्वितीय सत्यमें एकमेक हो जाता है। यह सर्वातीत भी है और सर्वरूप भी तथा निर्गुण, सगुण और दोनोंसे परे भी है। यह भावातीत स्थिति है, जिसमें संकल्प-विकल्पोंका स्पन्दन नहीं रहता। यही समाधि है, क्योंकि इसमें समाधानकी पूर्णता है और यह ज्ञान एवं अज्ञानसे परे है।

निर्विकल्पसमाधान

इस प्रकार जिसमें अहंबुद्धिकी चरम आहुति सम्पन्न होती है वह निर्विकल्प समाधान है। उसमें ऐसी स्थितिका परिपाक होता है, जिसे ग्रहण करनेमें बुद्धिकी भी गति नहीं है, फिर शब्दके द्वारा उसका वर्णन कैसे हो सकता है? इसमें सर्वांगमें सब क्रियाएँ निःस्पन्द हो जाती हैं। यदि यह अवस्था अधिक रहे तो शरीर नष्ट होनेकी सम्भावना है, जिनका प्राकट्य जगत्कल्याणके लिए हुआ है उनकी स्थिति शरीरमें चलती है।

माँका कथन है कि यदि असीमको पाना है तो पहले अपनेको सीमामें आबद्ध करके चलना चाहिए। पीछे अनन्तके आभाससे सीमाका बन्धन खुल जाता है। माँके अपने जीवन-अभिनयमें हम इस सत्यको स्पष्ट देख सकते हैं।

● ● ●

कितना भी खोजो अपने स्वरूपमें सृष्टि नहीं मिलेगी। चिड़िया काँचमें अपना प्रतिबिम्ब देख-देखकर चोंच मार-मारकर भले ही अपनी चोंच तोड़ डाले, काँच फोड़ डाले, उसे चिड़िया नहीं मिलेगी।

● ●

वह निष्ठा, वे विद्वान् और वे महान्

काशीसे संलग्न खजुरी ग्राममें ई० सन् १८६१ के लगभग पण्डित कृपालुदत्त द्विवेदीके घर एक पुत्रका जन्म हुआ। नाम रखा गया—सुधाकर। थोड़े ही वर्षोंमें वह व्याकरण, न्याय आदिका विद्वान् हो गया। पिता अपने पुत्रको लेकर काशीके राजकीय संस्कृत महाविद्यालयमें आये जो उन दिनों 'क्वींस कॉलेज'के नामसे प्रसिद्ध था और अब है संस्कृत विश्वविद्यालय।

उनदिनों विद्यालयमें ज्योतिषके प्रधानाध्यापक थे महा-महोपाध्याय पण्डित श्री बापूदेव शास्त्री सी० आई० ई०। द्वितीय अध्यापक थे पण्डित श्री देवकृष्णमिश्र। दोनों एक ही हॉलमें गद्दीपर बैठकर पृथक्-पृथक् अपने-अपने छात्रोंको अध्यापन करते थे। पिताने पुत्र सुधाकरको संकेत किया कि 'जाकर बापूदेव शास्त्रीसे पढ़ो।' वे स्वयं किसी कार्यवश अन्यत्र चले गये। सुधाकरजी शास्त्रीजीको पहचानते नहीं थे। वे मिश्रजीके पास जाकर पढ़ने लगे। कुछ दिनोंके बाद जब पिताको यह बात ज्ञात हुई, तब उन्होंने डाँटा—'कहाँ विश्वके अद्वितीय विद्वान् शास्त्रीजी और कहाँ यह साधारण पण्डित? कलसे शास्त्रीजीके पास जाकर पढ़ो।' सुधाकरजीने कहा—'मैंने मिश्रजीको हृदयसे गुरु वरण कर लिया है। अब इस निश्चयमें किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं हो सकता।'

यही सुधाकर आगे चलकर गुरुनिष्ठाके प्रभावसे ज्योतिषके महान् विद्वान् महत्त्वपूर्ण चालीस ग्रन्थोंके लेखक और महा-महोपाध्याय हुए।

पण्डित श्रीबापूदेव शास्त्रीने उनके अध्ययन कालमें ही एक 'अव्यक्त गणित' नामका ग्रन्थ लिखा और अपने द्वितीय अध्यापक देवकृष्णमिश्रको अवलोकनार्थ दिया। सुधाकरजीने अपने गुरुजोकी अनुमतिसे वह पुस्तक ले ली। घर ले जाकर रातभरमें उसकी अनेकों त्रुटियाँ पकड़ लीं और उनका संशोधन कर दिया। प्रातःकाल विद्यालयमें आकर मिश्रजीको बताया। मिश्रजी संकोच और भयके कारण काँपने लगे। वार-बार संकेतसे और आज्ञा देकर सुधाकरजी और अन्य विद्यार्थियोंको मना करने लगे—'मत बोलो।'

सामने गद्दीपर बैठे श्रीबापूदेव शास्त्री सब सुन रहे थे। उन्होंने बालक सुधाकरको बुलाया। अशुद्धियोंका संशोधन देखा। बालककी प्रतिभा और गणितशास्त्रमें कुशाग्र बुद्धि देखकर इतने प्रसन्न हुए कि तुरन्त एक प्रमाणपत्र लिख दिया—'यह बालक सुधाकर द्विवेदी गणितमें बृहस्पतिके समान है।' और एक चिट्ठी लिखकर क्वींस कॉलेजके प्रिंसिपल ग्रीफिथके पास भेज दिया। तत्कालीन अँग्रेज प्रिंसिपल वहुत प्रसन्न हुआ और सुधाकरजीको एक बड़ा पुरस्कार दिया।

श्रीवापूदेव शास्त्रीजी अपनी वृद्धावस्थामें कहा करते थे कि मेरे जीवनमें उस दिन जैसा पवित्र आनन्द उल्लसित हुआ, वैसा फिर कभी नहीं।

(म० श्री)

सप्रेम नारायण-स्मरण

: १ :

इसमें धर्म हानि नहीं है

आप धर्मभीरु ब्राह्मण हैं। सनातनधर्मके अनुयायी हैं। आपको मनःपीडाको मैं समझता हूँ। आपकी पुत्रियाँ बड़ी-बड़ी हो गयी हैं। योग्य वर न मिलनेके कारण समयपर आप उनका विवाह नहीं कर सके। एक तो आपको अपने धर्मकी हानिका पश्चाताप और दूसरे कन्याका किसी युवा पुरुषकी ओर आकर्षण, इससे आप चिन्तित और व्यथित हैं। इसके सम्बन्धमें आप न दुखी हों, न चिन्ता करें।

सनातन धर्मका दृष्टिकोण सर्वथा पूर्ण और निर्णयात्मक है। कन्याका विवाह ऋतुधर्मके पूर्व हो कि पश्चात्—यह मुख्य दृष्टिकोण नहीं है। मुख्य बात यह है कि वर श्रेष्ठ, कुलीन और सुन्दर होना चाहिये। शील स्वभाव, सदाचार एवं पालन-पोषणकी योग्यता भी आवश्यक है। ऐसा वर मिल जाय तो ऋतुधर्म होनेके पूर्व भी विवाह कर देना चाहिये। मैं 'भी' शब्दका प्रयोग जानबूझकर कर रहा हूँ; क्योंकि मनुस्मृतिके ९।८८ में **'अप्राप्तामपि तां कन्यां०'** कहकर **'अपि'** शब्दके द्वारा योग्य वर मिल जानेपर ऋतुधर्मसे पूर्व भी विवाह कर दिया जाय—ऐसा लिखा है। इसके बादके श्लोकपर ध्यान दीजिये—

> **काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि।**
> **न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥**

इसका अर्थ यह है कि कन्या रजस्वला होनेपर भी भले ही मृत्यु पर्यन्त अपने घरमें रहे परन्तु गुणहीन पुरुषके प्रति उसका दान कभी नहीं करना चाहिये। अर्थात् कन्याका दान गुणवान्‌को ही करना चाहिये।

भारतीय संस्कृतिमें विवाह भोगके लिए नहीं, धर्मके लिए है इसलिए विवाह मुख्य नहीं, धर्म मुख्य है—इस बातका ध्यान रखना चाहिये। अतः आप अपनी धर्म-हानिका पश्चाताप छोड़कर योग्य वरकी खोज कीजिये और विवाह कर दीजिये।

दूसरी बात है, कन्याका किसी युवा पुरुषकी ओर आकर्षण की। इसके सम्बन्धमें भी आपको सावधान रहना चाहिये और कन्याकी वृत्ति बहिर्मुख न हो, इसकी चेष्टा करनी चाहिये। परन्तु यदि उसका आकर्षण किसी योग्य पुरुषकी ओर हो तो आपको विधिपूर्वक उसका विवाह कर देना चाहिये। संसारमें कोई भी स्त्री-पुरुष निर्दोष नहीं होता। निर्दोष ईश्वरके अतिरिक्त कोई नहीं है। प्रायः कन्याओंके विवाहमें इसी कारण विलम्ब होता है कि पिता-माता अपने पक्षकी योग्यतासे वहुत अधिक योग्यतावाला घर-वर ढूँढ़ने लगते हैं। मनुस्मृतिमें कहा गया है कि अमुक परिस्थितिमें कन्या स्वयं भी विवाह कर सकती है।

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती।
ऊर्ध्वन्तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम्॥
(९।९०)

कुमारीको चाहिये कि यदि घरके लोग उसका विवाह न करें तो ऋतुमती होकर भी तीन वर्षतक प्रतीक्षा करे। इसके बाद वह अपने पतिका वरण कर ले। इसके वादवाले श्लोकोंमें कहा गया है कि ऐसा विवाह करनेपर वर-बधूको कोई पाप नहीं लगता। कन्याको अपने माँ, बाप, भाईसे कुछ लेना नहीं चाहिये और पति भी कन्याके घरवालोंको कुछ न दे। यह सब प्रसंग आप स्वयं मनुस्मृतिमें पढ़ लें। अभिप्राय यह है कि योग्य वर न मिलनेपर भी रजस्वला कन्या घरमें रह सकती है और वह चाहे तो स्वतन्त्ररूपसे अपने सदृश वरसे विवाह भी कर सकती है। इसमें किसीके धर्मकी कोई हानि नहीं है। शेष भगवत्कृपा।

: २ :

अमृतसर, ३०-९-७०

प्रिय हरीरामजी !

सप्रेम नारायणस्मरण । आपका दिनांक २-९-७० का पत्र हमें समयसे मिल गया था । पक्षव्यापी प्रवचनमें व्यस्त होने तथा तज्जन्य श्रमके कारण थकान हो जानेसे उत्तर शीघ्र न दे सके । अस्तु ।

१—आप बाल्यावस्थासे ही स्वाध्याय, सत्संग आदिमें तत्पर हैं, यह आपकी भगवदनुग्रहपात्र होनेकी पहचान है ।

२—आपके मनमें अशान्ति क्यों है ? केवल विक्षेपमात्र है, तो अभ्याससे दूर हो सकता है । शान्ति मिल सकती है । यदि वासनाओंके कारण है तो धर्मानुसार उपयोग करके उनका नियन्त्रण कीजिये अथवा भक्तिभावनासे भगवद्विषयक वासना बनाइये । यह सर्वथा निश्चित है कि मनमें कामना हुए बिना अशान्ति नहीं होती । आप जो हटाना या सटाना चाहते हैं, उसमें असमर्थ होनेपर अशान्त हो जाते हैं । अच्छा समझते हैं, अच्छा करना चाहते हैं, न कर पानेपर अशान्ति घेर लेती है । अतः कामनाके नियन्त्रणके लिए उसका धर्मानुसार नियन्त्रित उपभोग अथवा उसे भगद्विषयक बनाना आवश्यक है । यदि कामना न हो, केवल विक्षेप ही हो तो आसन, प्राणायाम, प्रत्याहारके द्वारा उसे मिटा सकते हैं ।

३—आपके शरीरमें जो रोग हैं, वे चित्तमें विद्यमान वासनाओंके कारण भी हो सकते हैं । रोगोंको केवल प्रारब्ध मान बैठना ही उचित नहीं है । आहार-बिहारादि, दोष, परिश्रम, कुसंग, कुकर्म, बलात् वासना-विरोध भी रोगके कारण हो सकते हैं । मनु और याज्ञवल्क्य दोनोंका कहना है कि मनुष्यको ब्राह्ममुहूर्तमें जगकर अपने रोगोंके कारण और निवारणपर विचार करना चाहिये । क्या करने-न-करनेसे रोग होता है और करने-न-करनेसे रोग मिटता है, निश्चयपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिये । जैसे क्षुधानिवृत्तिको प्रारब्धपर नहीं छोड़ा जा सकता, वैसे ही शारीरिक रोगको भी ।

४—विशेष-विशेष प्रयत्न करनेपर अमुक-अमुक प्रारब्ध भी मिटाये जा सकते हैं । गोस्वामीजीने 'भाविहुँ मेंटि सकहिं त्रिपुरारी' कहकर

संकेत किया है। अथर्ववेदमें रोग, ग्रह आदिकी निवृत्तिके लिए शान्तिके अनेक प्रसंग हैं। पूर्वमीमांसा-शास्त्रकी रीतिसे—'पौरुषकी ही प्रधानता है, दैवकी नहीं।' आपने सुना होगा, योगिराज चांगदेवने चौदह वार मृत्युको लौटा दिया। मार्कण्डेयने अपमृत्युपर विजय प्राप्त कर ली। सावित्रीने यमदूतोंसे सत्यवान्को छीन लिया। बात यह है कि जब दृढ़ विश्वाससे भगवदाराधना की जाती है या निष्ठापूर्वक योग या ज्ञानका सम्पादन किया जाता है तब मनोवृत्ति इतनी ठोस हो जाती है कि प्रारब्धजन्य निमित्त भी उसको सुखी-दुःखी करनेमें समर्थ नहीं होते। आप मानें या न मानें, मैंने अनुभव किया है कि ईश्वराराधन मृत्युको और दुःखको भी अपने पास फटकने नहीं देता।

५—परमात्माका यह संकल्प नहीं है कि सबका उद्धार हो जाय। उसका यह संकल्प है कि जो उसके द्वारा उपदिष्ट मार्गपर चले उसका उद्धार हो जाय; अन्यथा ईश्वरकी सृष्टिलीलाका लोप हो जायगा।

६—सत्य पदार्थका निरूपण करनेवाला ग्रन्थ ऐतिहासिक, भौगोलिक अथवा कर्तृगत महत्त्वसे महान् नहीं हुआ करता। उसके कागज, छपाई सफाईका भी उसपर प्रभाव नहीं पड़ता। वह जिस देशमें, जिस कालमें, जिस व्यक्तिके द्वारा, चाहे जैसे प्रकट होता है, अपने वर्ण्य पदार्थके कारण महान् होता है। निश्चित रूपसे अध्यात्मरामायण आदि ग्रन्थ जनताके शाश्वत उपकारी हैं। हीरा किस समय, किस खानसे, किसके द्वारा प्राप्त किया गया, यह मत देखो, उसका सच्चा मूल्यांकन करो।

७—भुशुंडि-चरित्र अत्यन्त प्राचीन है। एक भुशुंडोपनिषत् भी है। योगवासिष्ठमें भुशुंडोपाख्यान हैं। वक्ताकी आकृति, जाति आदि नहीं देखी जाती। उसके द्वारा वर्णित भगवद्गुणानुवादसे प्रेम करना चाहिये। पक्षिराज गरुड़ पक्षिचाण्डालसे भगवद्गुणश्रवण करते हैं। आवाज भी सुरीली नहीं। सुन्दर आकृति, उत्तम जाति सुरीली आवाजको छोड़कर परमात्माका श्रवण करो। शेष भगवत्कृपा।

अखण्डानन्द (सरस्वती)

श्रीभक्तकोकिल

भक्तका हृदय ही भगवान्‌की क्रीड़ास्थली है। वह भगवान्‌की इच्छा-मूर्ति है। वे चाहे जब, जहाँ, जैसे, जिस रूपमें सजा-सँवारकर उसमें क्रीड़ा करते हैं। उसकी वेश-भूषा, जाति, आकृति, नाम, रहन-सहन, आचार-विचार, गुण, भाव, सब प्रभुकी इच्छाके अनुसार होते हैं और वे अदल-बदलके, उलट-पलटके जैसी मौज होती है, वैसे ही उसके साथ खेलते हैं। वे अपनी क्रीड़ाके लिए भक्तके हृदयको मिट्टी, पानी, हीरा, मोती, लता, वृक्ष, कीट-पतङ्ग, पशु-पक्षी, बालक-युवा, स्त्री-पुरुष, बच्ची-बुढ़िया सब कुछ बना लेते हैं। और उसको निमित्त बनाकर हँसते, खेलते और खुश होते हैं, उसको वे सम्पूर्ण रूपसे अपना लेते हैं और जेसे खिलाड़ी नरम माटीको, माखनके लोंदेको चाहे जैसा आड़ा-टेढ़ा लम्बा-चौड़ा, खूबसूरत, बद-सूरत खिलौनेके रूपमें बनाता है वह माटी अथवा माखनका लोंदा खिलाड़ीके हाथमें सर्वथा समर्पित रहता है। ऐसी भक्तकी स्थिति होती है। भक्ति-सिद्धान्तमें भक्तकी यही सिद्ध अवस्था है। नित्यसिद्ध पुरुषोंमें यह स्वभावसे रहती है और साधन-सिद्ध पुरुषोंको भगवत्कृपासे प्राप्त होती है। नवधा भक्तिमें आत्मनिवेदन नामकी अन्तिम भक्तिकी पूर्णता—सम्पूर्ण समर्पण अथवा मधुर रसकी परिणति यही है।

आविर्भाव और शैशव

भगवान्‌के एक ऐसे ही भक्तका आविर्भाव विक्रम सम्वत् १९४२में सिन्धप्रान्तके जेकमाबाद जिलेके मीरपुर ग्राममें हुआ था। उनकी भाग्य-शालिनी जननीका नाम श्रीसुखदेवी और पिताका नाम स्वामी रोचलदास साहब था। उन्होंने जन्मके दिन ही स्वामी आत्माराम साहबकी गोदमें जो कि एक उच्चकोटिके सन्त थे, अपने नवजात शिशुको अर्पित कर दिया। इसी नवजात शिशुको आगे चलकर हम भक्तकोकिलके रूपमें देखते हैं। इसलिए अभीसे उसी नामसे व्यवहार करते हैं।'

भक्तकोकिलका शैशव भी साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा विलक्षण ही था। साधुओंकी सेवामें अत्यन्त रुचि थी। श्रीआत्माराम साहबके पास प्रायः साधु, महात्माओंका शुभागमन होता ही रहता था। मार्गके थके-

माँदे महात्मा जब रात्रिमें शयन करते, तब भक्त कोकिल पाँच वर्षकी अवस्थामें ही चुपचाप उनके पास जाकर पाँव दबाने लगते और जब वे जागकर देखते 'यह कौन है' तब वे छिप जाते ! इनके लक्षणोंसे प्रभावित होकर बड़े बूढ़े महात्मा भी इन्हें दिव्य मानते और पाँव दबवानेमें सङ्कोच करते ।

भक्तकोकिल पाँच वर्षकी अवस्थामें ही स्वामी आत्माराम साहबकी सेवामें संलग्न थे । वे शयन कर रहें थे और ये पंखा झल रहे थे । उस समय स्वामी आत्माराम साहबके मुखसे निद्राकी दशामें स्वयं ही किसी मन्त्रका उच्चारण हो रहा था । निद्रासे उठनेपर भक्तकोकिलने वड़े प्रेमसे आग्रहपूर्वक उस मन्त्रकी जिज्ञासा की । स्वामी आत्माराम साहबने कहा—'बेटा, समय आनेपर तुम्हें यह स्वयं सिद्ध हो जायेगा ।'

भक्तकोकिल पाँच वर्षकी अवस्थामें ही पाठशालामें भेजे गये । जब अध्यापकने पट्टीपर वर्णमालाका पाठ पढ़ाना चाहा, तब आप बोले— 'पहले आप भगवान् श्रीरामचन्द्रकी लीला-कथा सुन लीजिए, फिर पढ़ाना प्रारम्भ कीजिये ।' आपने अपनी तोतली बोलीमें अध्यापकजीको पहले भगवान् श्रीरामकी कथाका पाठ पढ़ाया, फिर पीछे वर्णमालाकी शिक्षा ग्रहण की । यह बात उस पाठशालाके अध्यापक पमनदासजी ही स्वयं कहा करते थे ।

सिन्धी भाषाका उस पाठशालामें आपने केवल चार-पाँच दिनतक अध्ययन किया । स्वयं स्वामी आत्माराम साहबने हिन्दी और संस्कृतकी शिक्षा दी और एक मौलवी साहबने पाँच-सात दिनोंतक फारसीकी शिक्षा दी । कुल दो महीनोंमें ही आपने अनेक भाषाओंका अभ्यास कर लिया । आपकी प्रतिभा देखकर पढ़ानेवाले आश्चर्यसे चकित रह जाते थे । मौलवी साहबने तो कहा 'इनको कोई और भी आकर पढ़ाता है क्या ?' परन्तु उन्हें पढ़ानेवालेकी अपेक्षा नहीं थीं; सभी विद्याएँ स्वयं सिद्ध थीं ।

एक दिन स्वामी आत्माराम साहबजी शयन कर रहे थे । और भक्त-कोकिल पंखा झल रहे थे । पासमें ही श्रीहनुमन्नाटककी पुस्तक रखी हुई थी । स्वामीजी बालसंन्यासी, तपस्वी, त्यागी एवं आत्मनिष्ठ थे । हनुमन्नाटकसे उनको इतनी प्रीति थी कि वे उसे पढ़ते-पढ़ते भावमग्न होकर नित्य करने लगते थे । भक्तकोकिलजी इतनी छोटी अवस्थामें पंखा झलते-झलते उस ग्रन्थका आधा अंश पढ़ गये । जागनेपर स्वामीजीने

आश्चर्य चकित होकर उन्हें हृदयसे लगा लिया और कहा—'इतनी देरमें तो मैं भी इतना नहीं पढ़ सकता !'

एक दिन भक्तकोकिलजी स्वामी आत्माराम साहबकी सेवाके लिए जङ्गलमें कंडे लेनेके लिए गये। ग्रीष्म ऋतु थी। दिन चढ़ गया, धरती तप गयी। आप नङ्गे पाँव कंडे सिरपर लिये आ रहे थे। उसी समय एक सज्जन उसी रास्ते घोड़ेपर निकले। उन्होंने कहा—"बेटा, तुम कण्डे फेंक दो और घोड़ेपर बैठ जाओ।" परन्तु भक्तकोकिलजीने स्वीकार न किया। उनमें बचपनसे ही श्रीगुरुसेवाकी पक्की लगन थी। उसी समय वादल घिर आये, वर्षा होने लगी।

भगवान् जिसके साथ खेलना चाहते हैं, प्रारम्भसे ही उसके जीवन-निर्माणपर एक सजग दृष्टि रखते हैं। उसके अन्तःकरणमें कोई और रङ्ग चढ़ने न पावे, संसारकी किसी वस्तु या व्यक्तिमें उसकी ममत्वबुद्धि न हो जावे, कहीं उलझ न जाय, इसीका स्वयं ही बिना किसी साधना प्रार्थनाके ध्यान रखते हैं। छः महीनेकी अवस्थामें ही भक्तकोकिलकी माताजी इस लोकसे हटा ली गयी थीं। पिता श्रीरोचलदासजी साहब बड़े ही गुरुभक्त सत्सङ्गप्रेमी उदारचेता थे। वे अपना वेतन अपने वस्त्रतक गरीबोंको दे दिया करते थे। भक्तकोकिलजीकी छः वर्षकी अवस्थामें ही वे भी भगवद्धाम बुला लिये गये। अन्तिम समयमें उन्होंने अपना सबकुछ गरीबोंको बाँट दिया, अपने बच्चोंके लिए कुछ नहीं छोड़ा। स्वामी आत्मारामजीने कहा—"तुम सबकुछ लुटा देते हो, बच्चोंके लिए कुछ नहीं छोड़ते ?" वे बोले—"मैंने इन बच्चोंका प्रारब्ध तो नहीं लुटाया है। ईश्वर सबकी रक्षा करता है।"

अब भक्तकोकिलजीके एकमात्र अवलम्ब स्वामी आत्माराम साहब रह गये। निरन्तर उन्हींकी सेवामें रहते थे, प्रीतिकी धारा सिमिटकर एक ओर बहने लगी। स्वामी आत्मारामजी भक्तकोकिलपर बड़ी कृपा और स्नेह रखते थे। अन्य शिष्योंको तो राजसी ठाट-बाटसे भी रहने देते, परन्तु इनके अन्दर त्याग, वैराग्य, तितिक्षा, सरलता, नम्रता, सेवा आदि सद्गुणोंकी वृद्धि हो—इसी बातका ध्यान सर्वदा रखते थे। किसीके यह पूछनेपर कि "इनको आप वस्त्र, आभूषण आदि क्यों नहीं धारण कराते ?" "उन्होंने उत्तर दिया था कि इनको मैं और ही आभूषण धारण करा रहा हूँ।

● ● ●

१५. नौकरसे गलत काम मत लीजिए !

मेरे मित्र आबकारी-इन्सपेक्टर थे। मिर्जापुर जिलेमें उनकी नियुक्ति थी, सन् ३०के लगभग। बड़े शानदार और उदार राजपूत थे। जन्म-भूमिके आसपास उनका सम्मान, यश एवं प्रतिष्ठा थी। मैंने उनके साथ दो-तीन दिन रहकर देखा—वे अपने नौकरसे बहुत दबते थे। वह उनकी आज्ञाका ठीक-ठीक पालन भी न करता और उलटे जो चाहता, उनसे करा लेता। मैंने एकान्तसे उनसे पूछा—'आप अपने नौकरसे इतना डरते क्यों हैं ?' उन्होंने दुःख प्रकट करते हुए बताया—'यह नौकर मेरा सब काम करता है। दूसरे लोग जब मुझे घूस या रिश्वत देते हैं तो बीचमें यही रहता है। और भी मैं कोई गलत काम करता हूँ तो उसमें यही मदद करता है। इसलिए अब इसको मैं गलत काम करनेसे रोक नहीं सकता। यह मनमानी करता है। डरता इसलिए हूँ कि मैं डाँट-डपट करूँ और यह ऊँचे अधिकारियोंके सामने मेरी पोल-पट्टी खोल दे तो उलटे मैं ही दण्डित किया जाऊँ।'

इस प्रसंगसे मुझे यह अनुभव हुआ कि नौकरसे कभी गलत काम नहीं लेना चाहिए, अन्यथा वह सिरपर सवार हो जाता है और मालिकको ही नौकर बना लेता है।

१६. रूठना किसलिए ?

उन दिनों मैं एक गृहस्थ-परिवारमें रहता था। वे लोग आध्यात्मिक रुचिसे सम्पन्न, सुशील एवं सदाचारी थे। घरमें सौजन्य एवं शान्तिका वातावरण बराबर बना रहता था। एक दिन मालूम हुआ कि घरकी मालकिन रूठ गयी हैं। अस्तु, उन्हें तो उनके पतिदेवने मना लिया। मैंने दूसरे दिन लड़कीसे पूछा—'तुम्हारी माताजी किसलिए रूठी थी ?

उन्हें क्या चाहिए ?' लड़की बोली—'मेरी माँ और स्त्रियोंकी तरह वस्त्र, आभूषण या अन्य कुछ प्राप्त करनेके लिए नहीं रूठती। अपने सुख-स्वार्थके लिए रूठना तो पाप है। वे इसलिए रूठी थी कि आज पिताजी लोगोंमें बैठे रह गये। स्नान-भजन नहीं किया। जलपान नहीं किया। अधिक समय बीत जानेपर सिरमें दर्द होने लगेगा। वे पिताजीके सुख-स्वास्थ्यके लिए रूठती हैं, अपने लिए नहीं।' ठीक है न। कभी रूठना हो तो इसलिए।

१७. यह काम आपके योग्य नहीं हैं !

मैं उन दिनों गाँवसे बाहर खलिहानमें सोया करता था। खुला आकाश। चाँदनी रात। निर्मल वायु। भजनमें भी आनन्द आता था। थोड़ी-थोड़ी दूरपर दूसरोंके खलिहान भी थे। गाँवका एक आदमी रातके समय अपने सधाये हुए पशुओंको छोड़ देता था। वे आकर लोगोंके खलिहानमें अन्न खाकर भाग जाते थे। उनके मालिक को बहुत समझाया गया परन्तु वे न माने। एक दिन हमारे कर्मचारीने कहा—'भैया जी ! आप आज्ञा दो तो इनके पशुओंको मैं गायब कर दूँ। फिर इनको अच्छी शिक्षा मिल जायगी।' मैंने 'हाँ' कर दी। दूसरी रातमें जब पशु आये तो उसने पकड़ लिए।

हमारे पास ही एक छोटी जातिके वृद्ध सज्जनका खलिहान था। वे देख रहे थे और सब समझ गये। धीरेसे चलकर मेरे पास आये। अत्यन्त विनयके साथ बोले—'भैया ? यह काम आपके योग्य नहीं है और आपकी जानकारीमें नहीं होना चाहिए।' मैंने पशुओंको छुड़ा दिया। मनुस्मृतिमें कहा गया है कि यदि चाण्डाल भी कहे—'इस तालाबमें स्नान मत करो, इस मार्गसे मत जाओ' तो उसकी बातको शास्त्राज्ञाके समान धर्म मान लेना चाहिए और नहीं करना चाहिए। मनुष्य ऐसे ही काम करे जो उसके स्वरूपके अनुरूप हो, विपरीत न हो।

१८. बालकोंका उत्साह

मैं भिवानीके हाई स्कूलमें प्रवचन करने गया था। बालकोंके सामने मैंने अनेक बातें रखीं। अपनेको हीन नहीं समझना चाहिए। सभी अवतार, महापुरुष, नेता, शासक पहले बालक ही होता है। उस समय

पता नहीं चलता कि उनमें कौन-सा महापुरुष बैठा है ? अध्यापकोंको भी उनका आदर करना चाहिए और बालकोंको भी एक-दूसरेके प्रति सद्भावना रखना। दुर्व्यसनके पराधीन न होकर महत्त्वाकांक्षी होना चाहिए। इस प्रसंगमें जब मैंने कहा कि किसी भी बालकको पढ़-लिखकर योग्य हो जानेके बाद उत्तराधिकारमें प्राप्त होनेवाली पैतृक सम्पत्तिकी इच्छा नहीं करनी चाहिए, बल्कि पितासे कह देना चाहिए कि 'तुम अपनी कमाई राष्ट्रकी सेवा, विद्यालय, चिकित्सालय, अनाथाश्रमको दे दो, मैं दूसरेकी कमाईसे गुजर नहीं करूँगा, मैं स्वयं कमाकर जीविका चलाऊँगा।' मनुष्यको पौरुष और श्रमका भरोसा करना चाहिए। उत्तराधिकारमें प्राप्त सम्पत्तिको स्वीकार नहीं करना चाहिए। बालकोंने ऐसी ताली पीटी और इतनी प्रसन्नता प्रकट की कि मेरा हृदय आनन्दसे भर गया और मैंने कहा—'हाथ उठाओ, तुममेंसे कितने उत्तराधिकारकी सम्पत्ति नहीं लेंगे। हजारों हाथ उठ गये और एक हर्षकी लहर दौड़गयी।

१६. नासमझकी निष्कामता

मैं दो-तीन दिनके लिए एक गृहस्थके घरमें ठहरा था। माताजी धर्मात्मा प्रकृतिकी थीं और प्रेमसे भजनमें संलग्न रहती थीं। मैंने पूछा—'माताजी ! आपके बाल-बच्चे तो सब ठीक हैं ? वे बोलीं—'महाराजजी ! अब आप बाल-बच्चोंकी याद क्यों दिलाते हैं ? अब मैं भगवान्‌का भजन करती हूँ। दूसरे किसीकी याद ही नहीं आती। अब मैं भगवान्‌से कुछ नहीं चाहती।' मैं चुप हो गया।

ऐसा कुछ संयोग कि उसी रातको उनके एक पुत्रके सिरमें असह्य पीड़ा होने लगी। डाक्टर बुलाया गया। ऐसा डर हो गया कि कहीं सिरकी नस न फट जाय। माताजीने बारह बजे रातको मुझे सोतेसे जगाया, कहने लगीं—'हे प्रभु ! बचाओ, बचाओ।' बहुत घबरायी हुई थीं। मैंने सब सुनकर कहा—'जाओ, तुम अपने बेटेके सिरपर धीरे-धीरे हाथ फिराओ और भगवान्‌का नाम लेकर आशीर्वाद दो, अच्छा हो जायगा।' प्रार्थना, स्नेह और आशीर्वाद सब दुःखोंकी रामबाण औषध है। थोड़ी देरमें दर्द दूर हो गया। निष्कामता समझदारीकी भी अपेक्षा रखती है। ●●●

हमारे श्रीमहाराजजी

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजका जीवन परिचय

ले० श्रीशिवानन्द ब्रह्मचारी 'आञ्जनेय'

प्रकाशक	श्रीकृष्ण-आश्रम वृन्दावन (मथुरा)	साइज : २२×३६=१६ पेजी पृष्ठ : ६०० मूल्य : ११.०० रु०

वन्दन : अभिनन्दन

ब्रह्मचारी श्री आञ्जनेयजीने जो 'हमारे श्रीमहाराजजी'को एक समर्थ अभिव्यञ्जना दी है अबतक जीवन-चरितके साहित्यमें जो अनेक अमूल्य रत्न प्रकट किये गये हैं, उनमें यह सर्वश्रेष्ठ रत्नके रूपमें प्रकट हुआ है। यह इतनी श्रद्धा, भावना, प्रीतिके स्नेहसे सिक्त करके लिखा गया है कि चिरकालतक भावुक भक्त, अभ्यासी साधक एवं जिज्ञासुजनोंको पथ-प्रदर्शन करता रहेगा।

श्री महाराजजी—'तुम ब्रह्म हो'—ऐसा प्रायः नहीं बोला करते थे। 'मैं ब्रह्म हूँ'—ऐसा भी नहीं बोलते थे। उनसे जब कोई पूछता कि आप कौन हैं तो कहते—'जो तुम देख रहे हो।' कभी कहते—'मैं चराचरका सेवक हूँ।' कभी कहते—'मेरे एक-एक रोमकूपमें कोटि-कोटि ब्रह्मा, विष्णु, महेश चिनगारियोंकी तरह चमकते और बुझते रहते हैं। उनसे कोई कह देता कि आप हमारे पिता हैं, स्वामी हैं, मित्र हैं तो 'हाँ' कर देते थे। ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता था कि उनकी दृष्टिमें कोई विशेष नहीं है। उनपर जो कोई, जिस किसी विशेषका आरोप कर ले, सब ठीक है। न विधि, न निषेध। उनकी उन्मुक्त मुस्कान ही मानो समग्र प्रपञ्च हो।

उनके शरीरको कोई चुपके-चुपके उठा ले जाता। कोई उनके पेट-पर सिर रखकर सो जाता। कोई पूजा करता, कोई झूला झुलाता। कोई कृष्ण कहता, कोई राम, कोई शिव कहता। उन्होंने स्वयं किसीको

न कभी कोई प्रेरणा दी कि ऐसा कहो या मानो और न तो किसीको निषेध ही किया। लोगोंने गालियाँ भी दीं और स्तुतियाँ भी कीं। पूजा-प्रतिष्ठा भी हुई और अपमान-तिरस्कार भी हुए। फूलमाला चढ़ी और गड़ाँसा भी। परन्तु यह सब औरोंकी दृष्टिमें था, अज्ञानियोंकी दृष्टिमें था, उनकी दृष्टिमें कुछ नहीं, ज्यों-के-त्यों अविचल, निर्विकार। यदि कभी किसीने अधिष्ठानकी स्वयंप्रकाशकी अथवा ब्रह्मकी मूर्ति देखी हो तो कहा जा सकता है कि वह हमारे श्री महराजजीका ठीक-ठीक दर्शन कर चुका है। सभी अध्यारोप और अपवाद उनमें हुए और गये। सभीका पारमार्थिक स्वरूप ब्रह्म है। अनेक महात्मा इसका उद्घोष भी करते रहते हैं; परन्तु वे ब्रह्मके व्यावहारिक स्वरूप थे। जिज्ञासुओंके लिए वे ब्रह्मविद्वरिष्ठ महात्मा थे, भक्तोंके लिए भगवान् थे, परन्तु वे स्वयं क्या थे उसको वे भी नहीं बतला सकते थे।

यह हमारे जन्म-जन्मका पुण्य प्रारब्ध अथवा ईश्वरका भूरि-भूरि अनुग्रह ही था कि हमें उनके सत्संग, आलाप और घनिष्ठ सम्पर्कका सुअवसर प्राप्त हुआ। हमने उनके साथ यात्राएँ कीं, भोजन किया, शयन किया, बरसोंतक उनकी गोदमें क्रीडा की। उनकी वह मस्ती, वह मुस्कान, वह सिंहकी-सी चाल, वह वेदान्त-गर्जना, वह निरपेक्षता अब भी मूर्तिमान होकर हमारे नेत्रोंके सम्मुख नृत्य कर रही है। हम इस कल्पनासे ही गद्गद हो जाते हैं कि हमें उनके निज जनोंमें एक स्थान प्राप्त हुआ। मैं रूठता था, वे मनाते थे। मैं खानेको मना कर देता था, वे खिलाते थे। हमने कभी अपने मनसे उनको एक माला नहीं पहनायी, कभी एक फूल नहीं चढ़ाया; परन्तु मैंने अनेक बार यह अनुभव किया कि मैं उनमें समा गया हूँ और वे मुझमें समा गये हैं। वे अपने स्थानपर ज्यों-के-त्यों हैं। हमारा उनमें डूबना और उतराना शाश्वत है। यह होता आया है और होता रहेगा। हमारे इस अविच्छेद-सम्बन्धको माया, प्रकृति, अविद्या अथवा सर्वान्तर्यामी ईश्वर भी विच्छिन्न नहीं कर सकता। यह अटूट है, शाश्वत है, परमार्थ है।

महापुरुषोंके जीवन-चरित्रोंकी लड़ीमें, कड़ीमें 'हमारे श्री महाराजजी' एक सुमेरु रत्नके समान सर्वदा देदीप्यमान रहेगा और अनेक जिज्ञासु एवं ज्ञानी, महात्माका जीवन कैसा होता है, इसकी शिक्षा इससे लेते रहेंगे।

हमारे श्री महाराजजीके चरणोंमें कोटि-कोटि प्रणाम और ब्रह्मचारी श्री आञ्जनेयजीका हार्दिक अभिनन्दन। —अ० सरस्वती

प्राचीन भारतमें गोमांस-एक समीक्षा

साइज : २२×३६=१६ पेजी पृष्ठ : २२८ मूल्य : २.०० रु०

प्रकाशक : मोतीलाल जालान, गीताप्रेस गोरखपुर

प्रकाशन तिथि पन्द्रह अगस्त १९७० ।

श्रीकृष्णाब्द ५०७० । विक्रमाब्द २०२७

यह पुस्तक बड़े परिश्रमसे अनेक तथ्योंका संकलन करके तैयार की गयी है । आजकल कुछ पाश्चात्त्य विचारक तथा उनके अन्धानुकरण करनेवाले कतिपय भारतीय भी यह सिद्ध करनेका प्रयास करते हैं कि 'प्राचीन भारतमें गोहत्या होती थी और गोमांस खाया जाता था ।' उन सबका मुँहतोड़ उत्तर इस ग्रन्थमें मिलेगा । उन विदेशी मांस भक्षी लोगोंका प्रयास वर्तमान कसाईखानोंको चालू रखने और गोमांसको प्राचीन भारतमें प्रचलित आहार बताकर उसका व्यवसाय बढ़ानेकी दृष्टिसे ही है । परन्तु भारतीय इतिहासके किसी भी कालमें इस तरहके कसाईखाने रहे हों, तथा लोगोंकी रसनाको तृप्त करने या पेट भरनेके लिए गोवध होता रहा हो इसका एक भी प्रमाण नहीं मिलता है । यज्ञमें गवालम्भका अर्थ गोवध नहीं, गौओंको छूकर दानमें दे देनामात्र है । जो आज भी प्रचलित है । आलम्भका अर्थ स्पर्श है । महाभारतमें स्पर्श यज्ञ (छूकर दान देने) का स्पष्ट उल्लेख है । वर्तमान कसाईखानोंको उन्हीं यज्ञशालाओंकी पङ्क्तिमें बिठानेकी कुचेष्टा कितनी उपहासास्पद एवं घृणाजनक है; इसका विचार साधुसहृदय जन कर सकते हैं ।

केन्द्रीय सरकारको गोवध-बंदीका कानून बनाकर इस पापपूर्ण हिंसाको अविलम्ब रोक देना चाहिए । यह कुकृत्य भारत और भारतीयोंके माथेपर कलंकका टीका बना हुआ है । यदि तुष्यद्दुर्जन न्यायसे यह मान भी लिया जाय कि प्राचीन भारतमें गोवध होता था, तो क्या आजके लिए वैध मान लिया जायगा । प्राचीनकालमें जितने दुष्कर्म होते रहे हों, वे सब आजके लिए परम कर्तव्य या सुकर्मकी कोटिमें आ जायँगे । आजके युगमें गौओंका संरक्षण आर्थिक दृष्टिसे भी महान् महत्त्व रखता है; अतः उसकी ओर सरकार अविलम्ब ध्यान दे ।

प्रस्तुत पुस्तकसे एक महत्त्वपूर्ण समस्याको सुलझानेकी प्रेरणा प्राप्त होती है; अतः हम संकलनकर्ता और प्रकाशकके आभारी हैं ।

—रामनारायणदत्त पाण्डेय 'राम'

—सत्साहित्य पढ़िये—

पूज्य स्वामी श्री **अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज** द्वारा विरचित अनुपम अध्यात्मिक कृतियाँ

वेदान्त-उपनिषद् :

१. **माण्डूक्य-प्रवचन**—(रु. ६.००) माण्डूक्योपनिषद् और कारिकाके आगम प्रकरणपर एक अद्भुत रचना। शांकर-अद्वैतका सुस्पष्ट, सुबोध, विलक्षण प्रतिभापूर्ण विवेचन। सरल एवं नाइलोन शैलीमें वेदान्तकी कठिन ग्रन्थियोंका भेदन किया गया है। नयी-नयी, आधुनिक युक्तियोंके द्वारा, नयी प्रक्रिया एवं साधनोंके द्वारा, ब्रह्म और आत्माकी एकताके अधिगमके लिए तत्त्वकी गम्भीर अनुभूति जिज्ञासुओंके लिए सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है।

२. **माण्डूक्यकारिका-प्रवचन** (रु. ५.००) माण्डूक्योपनिषद्-कारिकाके 'वैतथ्य-प्रकरण'पर युक्ति-अनुभूति पूर्ण कृति। मनन-प्रधान है और युक्तियोंके द्वारा आगम प्रकरणोक्त अर्थकी सिद्धि करता है।

३. **ईशावास्य-प्रवचन**—ईशावास्योपनिषद्की विशद व्याख्या। वस्तु-निरूपणकी शैलीका चमत्कार। (द्वितीय संस्करण प्रेसमें)

४. **मुण्डक-सुधा**—(रु. २.५०) मुण्डकोपनिषद्की व्याख्या। ब्रह्मविद्याका अपूर्व स्पष्टीकरण।

५. **अपरोक्षनुभूति-प्रवचन** (रु. ४.००) आद्य श्रीशंकराचार्य-प्रणीत तथा श्रीविद्यारण्य स्वामी-कृत 'दीपिका' व्याख्यासहित ब्रह्मविद्याके साधन, विचार, निदिध्यासन आदिका उत्तम विवेचन।

६. **आनन्दवाणी भाग ६**—(रु. १.००) वेदान्तके साधकों, जिज्ञासुओंके द्वारा स्वरूपसाक्षात्कारकी कठिनाइयों-सम्बन्धी पत्रोंके उत्तरोंका संकलन।

७-८. **आनन्दवाणी भाग ८ और ९**—(रु. १.०० प्रति) श्वेताश्वतरोपनिषद् पर हुए प्रवचनोंका संकलन।

भक्ति-भागवत :

९. **नारद-भक्ति-दर्शन**–(द्वि. सं. रु. ६.००) प्रेमाभक्तिका स्वरूप, लक्षण, प्रक्रिया, फल, अपूर्वता आदि हृदयंग करनेके लिए अपनी सुबोध शैली, स्पष्ट भाषामें विलक्षण व्याख्या प्रस्तुत है।

१०. **गोपीगीत**–(रु. ३.५०) भागवत दशम स्कन्ध अध्याय इकतीसपर प्रेमलक्षणा भक्तिका दिव्य अनुसन्धान।

*११. **गोपियोंके पाँच प्रेमगीत**–(रु. ००.२०) भागवतान्तर्गत वेणुगीत, प्रणयगीत, गोपीगीत, युगलगीत, और भ्रमरगीतका श्लोकों सहित रसास्वादन।

*१२. **श्रीकृष्णके दिव्य उपदेश** (रु. ०.१०)–श्रीमद्‌भागवतके एकादश स्कन्ध, अध्याय उन्नीस 'गुण-दोष विवेचन' श्लोक २७ से ४५ तकका श्लोक सहित अनुवाद।

***भागवत–विचार-दोहन** (रु. १.००) भागवत पर स्वतन्त्र प्रवचनोंका संकलन।

१४. **भक्ति–सर्वस्व**-(रु. ५.००) महराजश्रीने अपने साधन कालमें जिस लोकोत्तर लीला-लोकमें विहार किया एवं जिस अनुपम भक्तिका रसास्वादन किया उसकी दिव्य झाँकी इस ग्रन्थमें प्रस्तुत है। भक्ति-साधनाका मनोविज्ञान, मन्त्रानुष्ठान, उपासना, प्रेमका स्वरूप, भक्त-चरित इत्यादि भक्ति सम्बन्धी सरस लेखोंका संग्रह।

१५. **भगवान् के पाँच अवतार**–समाप्त।

१६. **मोहन नी मोहनी** (गुजराती रु. ०.६०) श्रीकृष्णलीला, व्रज-रस तथा भावलोकका चिन्तन !

१७. **श्रीमद्भागवत–रहस्य** (तृतीय सं. प्रेस में) भागवतके जटिल विषयोंपर शोधपूर्ण निबन्ध। सर्ग-विसर्गका सयुक्तिक निरूपण, रचनाकाल प्रस्तारित भ्रमोंका निराकरण, श्रीकृष्णलीलाका रहस्योद्‌घाटन तथा रसास्वादन। भक्तों एवं विचारकोंके लिए महत्त्वपूर्ण सामग्री।

१८. **श्रीमद्भागवत–रहस्य** (सिन्धी) समाप्त।

१९. **आनन्दवाणी भाग–७** (रु. १.००) भक्ति सम्बन्धी पत्रोंके उत्तरोंका संग्रह !

२०. **भक्ति-रसायनम्** (संस्कृत रु. ८.००) श्री हरिसूरि विरचित यह भक्ति महाकाव्य है। श्रीमद्भागवत–दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध) की भगवल्लीलाओंकी दिव्य उत्प्रेक्षाओंसे परिपूर्ण है।

२१. **भक्ति रसायन–प्रपा** (संस्कृत रु. २.००) भक्ति रसायन महाकाव्यकी विषमस्थल–टिप्पणी।

गीता :

२२. **सांख्ययोग** (द्वि० सं. प्रेसमें) द्वितीय अध्याय। त्वंपदार्थका स्वरूप, उसका साक्षात्कार, उससे प्राप्त स्थिति इत्यादिका वैज्ञानिक विस्तृत विश्लेषण।

२३. **कर्मयोग** (रु. ४.००) तीसरा अध्याय। कर्मका मर्म, उसकी दिव्यता, ज्ञान-भक्तिकी उलझी गुत्थियोंका निराकरण, कर्म-कौशल, प्रवृत्ति-धर्म, जीवनकला, कर्म और कर्तृत्वके विभिन्न स्वरूपोंका सूक्ष्म, स्पष्ट और ग्राह्य दृष्टिकोण प्रस्तुत है।

२४. **भक्तियोग** (द्वि. सं. रु. ४.००) बारहवाँ अध्याय। अनुराग-रंजित ईश्वरानुभूति, हृदय-शुद्धि और रसानुभूतिका विवेचन, अनुभूतिकी गम्भीरता, सजीवता एवं हृदयग्राहिता पूर्वक भावुक जनोंको परमार्थपथ-पर अग्रसर होनेकी स्थिर प्रेरणा प्रदान करती है।

२५. **ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना** (रु. ६.५०) तेरहवाँ अध्याय। साधनों सहित तत्त्वज्ञानका ऐसा कौशलपूर्ण प्रतिपादन है कि भ्रान्तियों और हृदय-ग्रन्थियोंका सहज भेदन होकर स्वरूपोपलब्धि होती है।

२६. **पुरुषोत्तम योग** (रु. २.५०) पन्द्रहवाँ अध्याय। भगवद्भक्तिके लिए अपेक्षित सम्पूर्ण साधनसामग्री, दृढ़ वैराग्यकी आवश्यकता, भजनीय ईश्वरका स्वरूप, जीवका स्वरूप, पुरुषोत्तम तत्त्वका अद्भुत प्रकाशन।

साधना सम्बन्धी :

२७. **साधना और ब्रह्मानुभूति** (रु. ३.५०) विचारात्मक, परमार्थ-पथका अचूक पाथेय। सन्तोंसे उपलब्धि विषयक, साधन-मार्गको आलोकित करनेवाले हृदयस्पर्शी, प्रभावशाली प्रेरणापूर्ण निबन्ध।

२८. **श्री उड़ियाबाबाजी और भोऌलपुरके बाबा (रु. ०.२०) दो विरक्त सन्तोंके सत्संग-क्षणोंके सुखद संस्मरण।

२९. **चरित्र-निर्माण आणि ब्रह्मज्ञान** (मराठी रु. १.००) साधना-की दिशा-निर्देश करनेवाले, हृदयग्राही छः उत्तम कोटिके निबन्धोंका और कथाओंका संकलन।

*३०. **महाराजश्रीका एक परिचय** (द्वि. सं. रु. ०.५०) स्वामीजी महाराजकी संक्षिप्त जीवन झाँकी प्रस्तुत करती है—'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत' का सन्देश, प्रेरणा, उत्साह और पथ-प्रदर्शन।

*३१. **महाराजश्रीका एक परिचय** (सिन्धी रु. ०.२५)

*३२. **क्या साधु कुछ राष्ट्र सेवा कर सकते हैं?** (रु. ०.१०) हिन्दुत्व, और धर्मका स्वरूप, तद्विषयक भ्रान्तियोंका निराकरण, साधुओं-को राष्ट्र-सेवा तथा राष्ट्र-निर्माणमें दिशा-निर्देश।

३३-३४. **आनन्दवाणी भाग १-२** (समाप्त)

३५-३६. **आनन्दवाणी भाग ३ और ४** (रु. १.०० प्रति) पूज्यपाद स्वामीजी महाराजके प्रवचनोंसे प्राप्त प्रेरक, उद्बोधक, धर्म, प्रेम, सदाचार, वैराग्य, ज्ञान-सम्बन्धी उपदेशोंका संग्रह।

३७. **आनन्दवाणी भाग–५** (समाप्त)

३८. **आनन्दवाणी भाग–५** (गुजराती रु. १.५०) ध्यान तथा अन्तर्मुखताके लिए मानस-बोध, अभ्यासात्मक-भावात्मक-विचारोत्तेजक उद्गारोंका संग्रह।

३९. **आनन्दवाणी भाग–१०** (समाप्त)

४०. **Glimpses of life divine** (Rs. 1.00) जस्टिस श्रीविपिनचन्द्र मिश्र द्वारा लिखित स्वामीजी महाराजकी संक्षिप्त जीवन-झाँकी।

४१. **An introduction to a realised soul** (Rs. 00.25) श्रीमिश्रजी द्वारा महाराजश्रीके महान् व्यक्तित्वका एक चिन्तन।

४२. **Import of the Impersonal** (Rs. 00.20) स्वामीजी महाराजके 'अपौरुषेयताका अभिप्राय निबन्धका स्वामी अनन्तानन्द सरस्वती द्वारा अंग्रेजी रूपान्तर।

४३. **ज्ञान-निर्झर** (रु. ०.३०) श्रीडोंगरेजी महाराज द्वारा निर्दिष्ट आध्यात्मिक जीवनोपयोगी, प्रेरणाप्रद, उद्बोधक, रसमय मुक्ता-वाक्यों-का संकलन।

केवल पुस्तक विक्रेताओं के लिए—

१. डाक खर्च अथवा रेलवे किराया आदि सब खर्च ग्राहकको देने होंगे।

२. एक बारमें सौ रुपयेकी पुस्तकें लेनेपर तीस प्रतिशत कमीशन दिया जायगा।

३. पुष्पांकित* प्रकाशनोंपर कोई कमीशन नहीं दिया जायगा।

और

प्राचीन-अर्वाचीन ज्ञान-विज्ञानकी प्रतिनिधि, पुरुषार्थ प्रतिपादक, प्रसन्न-गम्भीर त्रैमासिक पत्रिका—

'चिन्तामणि'

दर्शन, भक्ति, धर्म, संस्कृति, सदाचार, कला, चरित्र-विषयक भारतके सभी प्रान्तोंके मूर्धन्य विद्वानों व महात्माओंके लेख, दृष्टान्तादिसे पूर्ण, जीवनके लिए सर्वांगीण परमोपयोगी पाथेयको 'सत्यं-शिवं-सुन्दरं' के रूपमें प्रस्तुत करनेवाली पत्रिका। वर्षारम्भ नवम्बर है। वार्षिक शुल्क चार गत वर्षोंके अंक भी उपलब्ध हैं :—

प्रथम वर्ष सन्	१९६६–'६७ मूल्य	रु. ५–००	(एक जिल्द में)
द्वितीय ,, ,,	१९६७–'६८ ,,	रु. ५–००	(,,)
तृतीय ,, ,,	१९६८–'६९ ,,	रु. ४–००	(,,)
चतुर्थ ,, ,,	१९६९–'७० ,,	रु. ४–००	

एक प्रति रु. १–२५ पैसे, नमूनेकी प्रति नहीं भेजी जाती। पोस्टेज सहित मूल्य आनेपर अंक भेजा जा सकता है।

अवश्य ग्राहक बनिये।

निवेदन :

'चिन्तामणि' एवं ट्रस्टके प्रकाशनों को आप अपने मित्रों-परिचितोंमें विविध प्रकारसे प्रचारित कर सहयोग दें।

प्राप्ति स्थान तथा पत्र व्यवहारका पता :—

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

'विपुल', २८।१६, रिज रोड, मलबार हिल,

बम्बई–६.

EACH DAWN
HOLDS A PROMISE
From a small beginning, we've grown.
From a small textile company...
to one of India's leading textile manufacturers.
From textiles we've moved to other fields.
Into jute, plastics, plywood, dyes, chemicals,
and more recently, petrochemicals.
Yet there's more to come.
Each day means something new.
MAFATLAL GROUP
Mafatlal House, Backbay Reclamation, BOMBAY-20 BR.
AIYARS-M.59

PUBLISHED BY

Satsahitya Prakashan Trust

Vipul

28/16 Ridge Road

BOMBAY—6 (W. B.)

How shall we comprehend the essence of the Brahman Sutras

(APHORISMS ON ULTIMATE TRUTH)

by Swami Chidghanand Puri,
Shri Ramakrishna Sevashram

It is pre-eminent in the work portion of the Vedas (पूर्व-मीमांसा) that the purport or essence of a science should be determined by discerning the begining and conclusion etc. I am presenting here a reflection by merely following the commencement and ending.

Please ponder over the first and the last aphorism (Sutra means concise and unambiguous statement. It should give the essence of the arguments on a topic but at the same time deal with all the aspects of the question, be free from repetition and faultless.) The first aphorism is "Now (after the attainment of the requisite spiritual qualities) therefore (as the results obtained by the sacrifies etc. are ephemeral, whereas the result of the knowledge of Brahman is eternal), the enquiry (into the nature) of Brahman (which is beset with doubts owing to the conflictidng views of various school of philosophy, should be taken up)". The last aphorism is "(There is) no return (for the emancipated souls); on account of Upanishad declaration (to that effect)". If the meaning of both these aphrisms is compiled and condensed then this import is arrived at that—having attained the requisite spiritual qualities and having recognised the impermanence of the results of actions an enquiry into the nature of Brahman (Universal Reality) determining the reflections

on the end of Vedas should be taken up. Its fruit is the eradication of birth-death apparent in the mundane life. The proof of this is Vedas alone. This is the word-for-word meaning of these two aphorisms, but if deep thought is bestowed on these then many things are made clearly obvious.

1. By knowledge of Brahman alone is the absolute or non-repetitive form of final liberation obtained; because in the first sutra is the solemn proposition if the desirable knowledge of Brahman (Universal Reality) is made and in the last sutra is the fruit of non-repetitive liberation declared. The meaning of enquiry (जिज्ञासा) is for which the desire is that is awareness or consciousness alone ! By using the term Brahman it is clear that the knowledge is relating to Brahman (awareness) and not relating any other subject; signifying that knowledge other than that of Brahman will not acquire emancipation. Now this of point is obtained by the very letters of the sutras that in this Scriptures for securing non-repetitive form liberation no other means are advised except knowledge. Therefore, means of liberation is knowledge alone, not devotion nor ritual. Combination of these two nor combinations of any one of these with knowledge cannot be the preliminary means nor essential means. Through eradication of ignorance the non-repetitive liberation is the result of the knowledge of Brahman (Universal reality). For this reason ritualistic work or devotion etc are not expounded subjects of the book. In this way for obtaining the knowledge of Brahman desire and contemplation resulting from that desire are necessary. Contemplation is the body or means of knowledge. Between desire and contemplation the unsteadiness of mind is the obstacle. For removing them and stabilizing the desire ritual-devotion and atonement etc. are useful. For this reason these also are traditional means of knowledge of Brahman. However they are not direct or immediate means. Therefore, there is no essential confluence or equal convergence of knowledge, ritualism and devotion. But only a

succesive or progressive convergence. This is obtained by the very letters of these two Sutras. The enquirer of truth should pay attention to this point.

2. The visible result of knowledge is eradication of ignorance. What is that knowledge at all if it does not remove the ignorance about a subject relating to which it is the knowledge ? There is no distinction between eradication of ignorance and ascertainment of knowledge. Even then ignorance is first removed and then knowledge is accomplished or ascertained, It is essential to have an operation first for the eradication of ignorance. After removing the dust from mirror is the vision of the image seen. Verily the sure result of knowledge is also the eradication of ignorance. What else other than knowledge has the power to eradicate ignorance ? In this way in respect of whatever subject is the knowledge obtained the eradication of ignorance of that subject alone is the direct result of knowledge. Please pay attention, if the result of knowledge is non-repetitive form of liberation then the very eradication of ignorance is itself liberation. This demonstrated conclusion is obtained. The universal reality non-different from our Self as pure consciousness (Brahman) is self-effulgent. Therefore after ascertaining the knowledge of universal reality (Brahman) no duty whatsoever remains. In common worldly transactions after knowing earthen pot and cloth action and inaction etc. have to be considered. After knowing deity and Rishi etc. by Vedic method ritual performence and devotion become essential. But after the knowledge of Brahman (Universal reality) no duty nor accomplishment remains because after the knowledge of Brahman liberation in the form of eradication of ignorance is the clear fruit of attaining our own nature. Self (Atman) indicated by eradication of ignorance is emancipation. All efforts are made only for liberation. After attaining it what is the use of ritual-devotion etc ? Therefore it is not possible for any duty to remain after attaining knowledge the goal of enquiry

of Brahman, Essence is clear after contemplating on the first and the last sutra that these who accept the practicing of ritual and devotion after the knowledge of Brahman are not in consonance with the substance of Sutras. Hence this is the purport of the book that liberation is by knowledge alone.

3. Now the question is whether by knowledge of Brahman is the individual soul only liberated or some one else? Emancipation is of the individual soul alone and of none else. With this position Brahman Universal reality-and individual soul are not two but only one-this demonstrated conclution is proved automatically. How will the individual soul attain emanciation by the knowledge of Brahman that the individual soul is different from Brahman-Universal reality? Because one thing is that universal reality or Brahman is not a relative or mundane thing, at the same time it is naturally of the form of non-repetitive liberation. Non-repetetive form of liberation is impossible by any other knowledge of Brahman save the knowledge of non-difference between individual soul and Brahman. How does an individual soul profit or lose-by Brahman being liberated! As long as it is not our own nature, so long how can its liberation be our liberation? If by this knowledge alone is liberation fulfilled that 'I am free', and not by any other then how can I be free by the knowledge that 'Brahman is free'? What is the utility if freedom be there and not known? In fact the knowledge of non-difference is freedom. Therefore, this alone is the import of the statement that 'by the knowledge of Brahman is the individual soul liberated; that individual soul and Brahman are non-different, two words convey one meaning, By compounding the begining and concluding sutras this import alone is obtained. The fact of being universal reality (Brahman-ness) of Self (Atman) is self-evident, Brahman is non-dual, for this reason Self is non-dual. Nescience is the obstructing agent. By the knowledge of oneness of Brahman and Self this ignorance is eradicable

4. The meaning of the word non-repetition is abolition of being born again. Death and birth or going and coming takes place in the worldly life meaning in this apparent phenomena. Now the thing to be considered is this that the result of knowledge of Brahman (Universal reality) is to be free from death and birth and that result is actual eradication of ignorance; this makes it clear that the eradication of ignorance is of the form of absence of mundane life. The eradication of ignorance, extinction of worldly life, abolition of death and birth and emancipation —all these are only convertably terms of one thing only. It is proved by this that ignorance it self is worldly life. Mundane life is dependant on worldly knowledge. Let the mundane life be known or unknown. just as a thing whose existence is known depends upon its awareness so also a thing whose existence is unknown also depends upon awareness. As when one says that the lower world exists or not ? —this I do not know. This ignorance in the form of 'not knowing' and its object or topic—both are dependant upon awareness. Say, is not this so ! without awareness any thing can not be accepted in the form of known or unknown. As a matter of fact, mundane life, its knowledge and ignorance also—everything is dependant upon the existence of awareness or the knowing capacity. Now this essence is derived that a thing whose existence is dependant on some one else, it can be eradicated. A self evident and self—dependant existence can be eradicated. A thing that depends on the existence of some one else, it follows or obeys accordingly and it is dependant upon it. Ignorance remins in knowledge only. It is awareness alone that enlightens that 'I am ignorant' Actually nothing other than ignorance can indwell in knowledge. Therefore, ignorance alone is worldly life. The eradication of this ignorance alone is non-repitition (emancipation). Its form is absence of mundane life, the fruit of the knowledge of Brahman-worldly life and absence of its perception. Afther realising the knowledge of Brahman neither will this mundane life

last or knowledge relating to it. Brahman alone will remain. The conclusion of this is that those who have accepted nature (prakriti or phenomenon) or atoms as diffeent or different-non different from Brahman as also the view of transmitation in Brahman and accordingly explained the creation, their opinion is not in consonance with Vedanta or Upanishads; because Vedanta accepts the eradication of ignorance through knowledge and emancipation in the form of absence of mundane life, and followers of that opinion do not accept ignorance as the root cause of mundane life, so in their opinion liberation through knowledge is also not consistent. This is the rationale of refutation of different schools in the body of the book.

5. If in fact, worldly life was true then in liberation even though have not perceived it would not been destroyed meaning it would have persisted; because even when not perceived appearance does remain. Just imagine that in profound darkness even though the earthen pot is not seen yet it remains. If the existence of appearance be accepted then its reperception is inevitable. Under this situation the abolition of death and birth as declared in Upanishads is not entirely possible. If it be imagined that on entire obliteration of latent desires even when the worldly life persists the rebirth does not take place then the question arises that in such a situation why would not the desire for worldly felicity again arise ? If after excessive enjoyment a disease is produced and after its removal by consuming drugs, does not desire for enjoyment reappear ? The truth is that on accepting worldly life as true abolition of the both the desire for gratification and rebirth are impossible. The import of this is that in order to abolish reappearance or rebirth this demonstrated conclusion is established that absence of perception the absence of appearence is obtained for all times. The result is this that absence of appearance and absence of perception are corelative. There is no appearance without perception signifying that appea-

rance itself is untrue. If appearance was not false then on annihilation of perception the appearance could not be destroyed and neither the eutire obliteration of latent desires. As some one has the delusion of silver in nacre. With the Knowledge of nacre the perception of silver dissloves then this also is established that during the appearance of silver there existed no real silver. This is the falsity of silver. Falsity conveys that as a result of the ignorance of the substratum to accept a false thing as true object of perception by imagining is falsity or imagination. where that object does not exist, there to imagine its existence is falsehood. In this way non-repetition (liberation) is caused by the knowledge of Brahman-by saying this the first and the last sutras have also established that the appearance is false. In this way the opinion of the truth of the world is refuted. One concealed import of the statement that emancipation is caused by the knowledge of Brahman should also be understood as this.

6. Now this should be considered that this ignorance is relating to which subject ? Is it relating to Brahman only or self (Atman) only or relating to the oneness of both ? This is quite reasonable well ascertained and opportune that this ignorance is relating to the oneness of Self and Brahman. If the Self and Brahman were not non-different then the eradication of mundane life of birth and death and delusion concerning it would not be possible. Even if one of the triad of perceiver, perception and perceived remains then certainly the existence of three will be proved. When the imaginary individual in the form of perceiver passes away and when Brahman as awareness of perceiver is comprehended then the reality of triad is invalidated in a definate form. The inport of the statement "Non-repetetive form of liberation is obtained only through the knowledge of oneness of Brahman and Atman" is this that ignorance relating to oneness of Self and Brahman alone is mundane life and its eradication itself is non-repeti-

-tive form of liberation. Therefore this alone is proved that besides the knowledge of non-cifference of the perceiver-Brahman and substratum-Brahman no other spiritual practice is needed for liberation. So long as the ignorance is not eradicated by firm immediate realization (of the oneness of perceiver or Atman with substratum or Brahman), as along the current of knowledge should be protected and reinforced by reiteration. In case of mighty obstacles performance of devotion etc. could be undertaken otherwise they are not necessary. This essence alone is clearly obtained by the conjoint study of both these sutras. Desire for knowledge of Brahman is the means. Immediate awareness (of oneness of Atman and Brahman) is ignorance-eradicator. Atman typified by eradication of iguorance is emancipation and Veda the verification.

7. When this is established that ignorance and worldly life are synonymous words or mundane life is produced by ignorance, it is also obvious that just as ignorance is beginingless and with an end similarly is the mundane life beginingless and with an end. Just as ignorance is destructible by knowledge so also mundane life of birth and death is destructible by knowledge. If the worldly life was true then it would not be destructible by knowledge. This is an universal axiomatic rule that knowledge eradicated object is only untrue. Another point is well worth notsing that those who believe in ignorance and mundane life as two separate things, in their opinion worldly life will be beginingless and eternal and not beginingless and with and end. In this situation the talk of non-repetitive form of liberation would be sterile. In the presence of a second thing extinction of contact is not possible. Therefore the conclusion of the dualists is not in consonance with the commencement and ending.

8. Now this is worth scrutinizing that what is the nature of this ignorance ? Is absence of knowledge itself its nature ? It is not proper to believe ignorance as of the form of ab-

-sence of knowledge; because if the ignorance were of the form of absence of knowledge then it could not have been eradicated by the awareness of the oneness of Atman and Brahman; as absence is never destroyed, but it is obvious that ignorance is destroyed. By any sort of knowledge absence can not be destroyed; because complete negation or absolute non-existence is permanent.

Even if ignorance be accepted as of the form of antecedent non-existence the matter does not fit in well. This is true that previous absence can be destroyed and non-existence resulting from destruction can be produced. But previous absence is dependant or related to its opponent. Surely if ignorance is believed to be previous absence then you will have to satisfy as to whose is it the antecedent non-existence? Is it of knowledge or ignorance? It is ludicrous to say that the previous absence of ignorance is ignorance. It is the antecedent non-existence of knowledge, then is it the previous absence of known knowledge or unknown knowledge? In both these conditions the antecedent non-existence of ignorance is incapable of being proved. In some ground or substratum, enlightened by some enlightener only can the existence of any presence or absence be possible. It is injustice of fair play to state the antecedent non-existence of ignorance. Neo-logicians also have refuted non-existence in any form. Import is, this ignorance is not of the form of absence of knowledge, it is of the form of positive presence and hence eradicable by knowledge. This procedure is also established by the two 'Enquiry and non-repetition' sutras.

9. This ignorance which is beginingless, unspeakable, of the form of positive presence hence eradicable by knowledge, covers its own ground only. The nature of ignorance is this only that it covers that very thing in which it dwells. In such a situation this also is certain that the ground or basis of ignorance could only be consciousness or knowledge and not brute matter. Ignorance is illuminated by ground illumi-

nation. Who else other than a conscious being can know that 'I am ignorant' ? For this reason pure Brahman (without adjuncts) or brute matter-none of these two could be proved to be the basis of ignorance. Therefore universal reality (Brahman) in the form of an individual soul (Jiva) covered with nescience alone is the basis. Ignorance or nescience is beginingless and individual soul is beginingless. Of these two, .the form of inhabitant and the dwelling also appears during nescient stage. What is desired to be conveyed is that ground and object of nescience both are Atman(awareness) only. Ignorance is to our own self and with regard to our own being. So long as the sense of individual soul is not eradicated during the same time as the eradication of nescience by the knowledge of oneness of Brahman and Atman as long the presence of nescience and its sport as also the vexations of its destruction is there. None after its eradication. Due to refutability by knowledge the presence of nescience is also only apparent. There is nothing besides creation as perception. This procedure of perception as creation is also proved by this.

10. Well, now let us look at the conclusion. Nescience is present and reasoning is born out of ignorance. When this intellect becomes of the form of Brahman (ie. I am awareness in which the individual the world and its creator has no existence) then ignorance (consisting of the partitioned self and the real world) is abolished. As in the body so many actions and transactions are happening but only when mounting on the instruments with a sense doership some work is done then only is produced a meritorious or disreputable act and it impresses the doer likewise. In this way many mentations come and go but when through the mentation produced by the great sentences (which declare oneness of Brahman and Atman) assume the form of Brahman then consciousness mounting on the mentation destroyes nescience. Inspite of being a mentation product it is capable of destroying its own casual ignorance because of the oneness

of ground (Atman) and object (undividedness) leaving no basis for the state of ignorance. Only consciousness mounting on mentation destroyes ignorance, Not pure conciousness. Therefore, it is said in Vedanta that ignorance is destroyed by mentation of knowledge, pure consciousness does not destroy it. Pure Brahman consisting of supreme truth whoes form is awareness is not an opponent of nescience; because in it there is no nescience whatever. This point also is proved by the fact that in Brahman only mentation pervades (वृत्तव्याप्ति) and result or fruit does not pervade (फलव्याप्ति) meaning utility of mentation is only to destroy ignorance darkness; and not to produce any sort of fruit-pervasion or egoity, of the knowledge of Brahman that 'I have known Brahman. If by the knowledge of Truth individuals knowing it are produced then there would be a caravan of knowers of Truth. Truth or knowledge is for destroying the difference between knowers and ignorant.

The essence of this essay isthat emancipation is obtained through the knowledge of Brahman (universal reality) and not by action, devotion etc. Meritorious work and devotion etc. are useful and neccessary for destroying impurities of mind. Therefore with emancipation these have consecutive or progressive convergence (क्रम समुच्चय) and not equal convergence (सम समुच्चय) Mundane life is a sport of ignorance only. As it is destroyed by awareness of the oneness of Brahman and Atman ignorance is untrue. It appears but is not there. That ignorance is of the form of positive presence. It covers its own basis. It is of the form of existence-non existence and hence unspeakable. This alone is concluded as the demonstrated truth of Brahman Sutras which stated in indubitable terms as the supreme essnce of Vedanta Sutras is that the Brahman of the Upanishads is the only truth and everything else this world of manifoldness is unreal, is a mere appearance; the individual soul (Jiva) is identical with Brahman.

In this way whatever demonstrated conclusions supporting

the Advaita (Non-dualism) philosophy are there are all proved merely by the commencement and concluding sutras. Certainly this also forms one part of the uniqueness of the skillful writing style of Bhagwan Vyas that whole propounded conclusions of the book could be obtained by just the begining and concluding sutras, Discerning piesons should endevavour to learn by this method also.

—: 0 :—

Note : Swami Shri Chidghananandpuri ji Maharaj was a well renowned savant from Bengal. In his early life before Sansyas he was well knowv as Shri Rajendra Ghose. It is gratifying to note that he was a close friend of Swami Akhandananda Saraswati. He has written many nice books in Sanskrit and Bengali. Many skillful arguments expressed by him for explaining Brahman Sutras and in ascertaining its essence are recommended and supported by Mahamahopadhyaya Sage Shri Laxman Shastri Dravid. It is hoped that this new skillful reasoning will stimulate contemplation.

———

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐसहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभिहर्यंत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥

मैं आप लोगोंमें सहृदयता, मानसिक पवित्रता और राग-द्वेषराहित्यकी प्रतिष्ठा करता हूँ। जैसे अवध्य गाय अपने छोटे-से बछड़ेसे स्नेह करती है, वैसे ही आप सब परस्पर एक दूसरेसे प्रेमपूर्ण व्यवहार करें।

श्रीपूर्णवस्त्रभंडार

२२२ नवी गली, मंगलदास मार्केट

बम्बई—२

वाम्बे डाइंग एण्ड मैन्यूफैक्चरिंग कम्पनी

बम्बई

के

(फेन्ट) कटपीस वस्त्रके थोक विक्रेता

की

शुभ कामनाएँ

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट के प्रकाशनों के बिक्री-केन्द्र

१—'विपुल'
२८।१६, रिजरोड
मलबार हिल, बम्बई—६

२—आनन्दकानन
सी० के० ३६।२०, ढुण्ढिराज
वाराणसी (उ० प्र०)

३—श्री उड़िया बाबा आश्रम
पो० वृन्दावन (मथुरा) (उ० प्र०)

४—विद्यावारिधि-पुस्तकालय
मोती बाजार, हरिद्वार (उ० प्र०)

५—सत्साहित्य ग्रन्थागार
अपना बाजार
दुकान नं० २१, गंजीपुरा
जबलपुर (म० प्र०)

६—सर्वोदय साहित्य भण्डार
तकियापारा, दुर्ग (म० प्र०)

७—हिन्दी बुक सेन्टर
दरियागंज (मोतीमहलके पीछे)
दिल्ली—६

८—श्रीहरिकृष्ण धार्मिक पुस्तक भण्डार
बाजार राजपूता
पानीपत (हरयाणा)

९—भारतीय पुस्तक भण्डार
नानीगली, जगदीश रोड
उदयपुर (राजस्थान)

१०—श्री मुन्शी राममनोहर लाल
नयी सड़क
दिल्ली—६

११—श्री सुन्दरलाल
लखनऊ-चिकनसाड़ी-हाऊस
चौक, लखनऊ—३ (उ० प्र०)

१२—सर्वोदय साहित्य भण्डार
महात्मा गाँधी मार्ग
इन्दौर (म० प्र०)

१३—सहयोगी पुस्तक भण्डार
सी० पी० टैंक
बम्बई—२

14—The International Book Service
Deccan Gymkhana
Poona—4

15—Oriental Book Centre
Manek Chowk
Near Ranina Hajira,
Ahmedabad—1

सत्साहित्य-प्रकाशनट्रस्ट, बम्बईके लिए विश्वम्भरनाथ द्विवेदी द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा आनन्दकाननप्रेस, सीके. ३६/२० वाराणसीसे मुद्रित।